CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वैदिक धर्म

अक्टूबर १९६६

५० पैसे

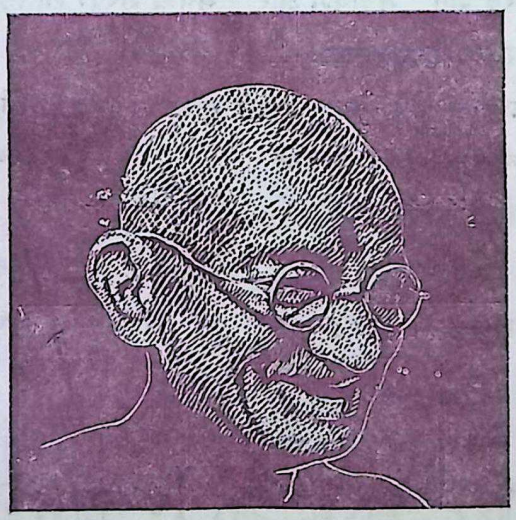

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वैदिक धर्म

वर्ष ४७ : अंक १० : भाद्रपद २०२३

प्रधानसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

वि ष या नु क्र म णि का

१	वर्षक मरुत्	[वैदिक प्रार्थना]	२०१
२	वेदमूर्तिका " शरद शतं " में प्रवेश और " भूयश्च शरदः शतात् " का संकल्प		२०३
३	वेदोंका स्वाध्याय-नवजीवनदायक— मुख्यतया मन्त्रशक्तिसे मेरी मृत्यु-मुखसे मुक्ति	श्री पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड	२०५
४	अभिज्ञान-शाकुन्तलका नायक दुष्यन्त	श्री बद्रीप्रसाद पंचोली	२०९
५	एकाग्रता और सक्रिय ध्यान	श्री माताजी	२१४
६	अमिय-कलश	श्री वेदव्रत शर्मा शास्त्री	२१७
७	ऋग्वेदका सुबोध भाष्य	पं. श्री. दा. सातवलेकर	१५३ से १७६

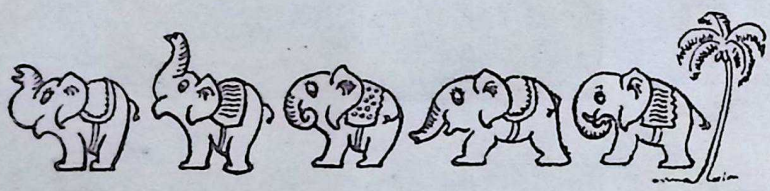

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६१, विदेशके लिये रु. ६.५० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. वलसाड]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वैदिकधर्म

वर्षक मरुत्

वर्षन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान् ।
यद् यामं यान्ति वायुभिः ।

(ऋ. ८।७।४)

(मरुतः) वीर मरुतोंका दल (यत् वायुभिः) जब वायुओंके साथ (यामं यान्ति) दौडने लगता है, तब (मिहं वपन्ति) वे वर्षा करने लगते हैं और (पर्वतान् प्र वेपयन्ति) पर्वतोंको कंपा देते हैं।

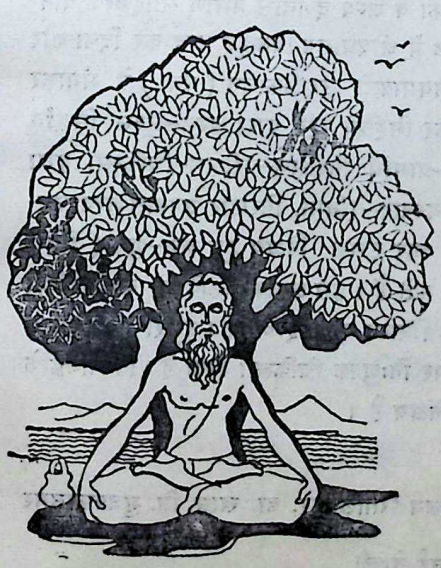

पवनके झकोरोंसे बादल इधर उधर उडने लगते हैं और कुछ समयके बाद उनसे वर्षा होने लगती है, तथा अन्न भी यथेष्ट मात्रामें उपलब्ध होता है। इसी अन्नसे जीव सृष्टिका भरण पोषण मिलता है। निस्सन्देह मरुतोंका यह कार्य वर्णनीय है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हमारी संस्था एक स. २१ सन् १८६० ई. संख्या ४६३ पर रजि० है। नाम

संस्था जीवनप्राकृतिक चिकित्सालय

प्राकृतिक चिकित्सामें नई क्रांतिका शुभ संदेश

लेखक एवं प्रकाशक— श्री भरतसिंह वैद्य, प्राकृतिक चिकित्सक सी० ३४१, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली। पृष्ठ २५४, मूल्य रु. ३.००

"प्रस्तुत पुस्तकमें पंचमहाभूतोंके आधार पर रोग निवारणकी विधि और स्वस्थ रहनेके उपायों पर प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद तथा प्राकृतिक चिकित्साके अपने ज्ञान और अनुभवको लेखकने इतने सरल और सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है कि एक साधारण पाठक भी उसको पढकर लाभ उठा सकता है। स्वास्थ्य और सदाचार सम्बन्धी वैदिक मन्त्र और उनके भावार्थ देकर सृष्टिविज्ञानकी व्याख्या की गई है। शरीरकी रचना और उसके विविध अङ्गोंकी क्रियाओंका वर्णन करके रोगोंके निदान एवं उपचारके तरीके बताए गए हैं। जिन रोगियोंने इस चिकित्सा प्रणालीको अपनाकर अपने असाध्य एवं जीर्ण रोगोंसे मुक्ति पाई, उनका विवरण पढनेसे पुस्तककी प्रमाणिकता सिद्ध होती है। लेखककी मान्यता है कि प्रायः सभी रोग मिट्टीके प्रयोगसे दूर किए जा सकते हैं। स्वास्थ्य और उपचारमें दिलचस्पी रखनेवाले पाठक इस उपयोगी पुस्तकका स्वागत करेंगे, ऐसी आशा है।"

११-३-६२ दैनिक हिन्दुस्तान, नई देहली

मैंने सन् १९२१ ई. से डा. लुई कोहनीकी प्रणाली व अन्य प्राकृतिक चिकित्सा प्रणालियोंका अध्ययन आरम्भ किया, सन् १९३२ ई. तक रोगियों पर भी परीक्षण करता रहा, सन् १९३३ ई. से मैंने आयुर्वेदिक औषधालय मेरठ शहरमें खोल दिया, इसे २५ वर्ष तक अन्य स्थानोंमें भी चलाया। साथमें कभी कभी प्राकृतिक चिकित्साके प्रयोग भी करता रहा, इसके साथ पंचमहाभूत विज्ञानके अनुसंधानके लिये महर्षि दयानन्द सरस्वतीजीका वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका व यजुर्वेदभाष्यको व अन्य दर्शनोंसे प्रमाण संग्रहकरके वानप्रस्थ समान जीवन व्यतीत करनेका संकल्प लिया अर्थात् सन् १९५८ में औषधालय बिलकुल बन्द कर दिया और जुलाई १९५८ में स्वर्गीय महात्मा गांधीजीकी निसर्गोपचारकी नियमावली उरुलीकाचन (पूना) से मंगाकर ग्रामीण जनताको चिकित्सामें आत्मनिर्भर बनानेके उद्देश्यको पाकर मिट्टीकी पट्टी द्वारा सरल-सूक्ष्म सिद्धांत आरम्भ किया। जो पांच वर्षतक सैंकडों रोगियोंपर शहरों-कस्बों-ग्रामोंमें निरीक्षण-परीक्षण-चिकित्सा द्वारा सभी रोगोंपर एक समान लाभकारी सिद्ध हुआ। इसी सिद्धांतसे टबस्नान-ऐनिमा, निराहार उपवास अन्य उपकरणकी जरूरत समाप्त हो गई है। और शरीरकी रचनाके मूलाधार चार स्तम्भ निश्चय हुए अन्न-शुक्र (वीर्य) श्रम-निद्रा इनकी शुद्धि पुष्टिसे शरीर व आत्माके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इस ज्ञानको लिपिबद्ध करनेके लिये दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रथम जीवनसंदेश (प्राणचिकित्सा) जिसका मूल्य ३.०० है। दूसरी पंचमहाभूत विज्ञान पृष्ठ १६६ मूल्य १.०० डाकव्यय पृथक् है। चिकित्सालय पर निःशुल्क चिकित्सा होती है। विद्यार्थियोंके लिये शिक्षण, परीक्षण, चिकित्साविधि सिखानेका प्रबन्ध करनेका निश्चय है।

पता नं. १ भरतसिंह वैद्य, मंत्री- 'जीवन प्राकृतिक चिकित्सालय' गालिबपुर, डा. खास, जि. मुजफ्फरनगर

पता नं. २ डा. रामचन्द्रसिंहजी, C 341, सरोजनी नगर, नई देहली

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेदमूर्तिका "शरदः शतं" में प्रवेश

और

"भूयश्च शरदः शतात्" का संकल्प

☆

१९ सितम्बरका वह पावन दिन। वह भी दो दृष्टियोंसे पावन। एक तरफ तो वीरताकी साक्षात् प्रतिमूर्ति तथा हिन्दुओंके आदर्श देवता 'गणानां गणपति' की स्थापना और दूसरी तरफ वेदमूर्तिका १०० वां जन्म दिन। इन दोनों पावन दिनोंका संयोग एक संयोग ही था। यद्यपि उस दिन केवल पूजा करके सूक्ष्मसी शुभकामनाओंको अर्पण करने मात्र-का संयोजकोंको विचार था, पर आशातीत अतिथियों एवं अन्य आगन्तुकोंके आ जानेके कारण वह सूक्ष्मसभा भी कुछ दीर्घसी ही हो गयी। उस दिन प्रातःकालसे ही स्वाध्याय मण्डलका प्रांगण शब्दायमान होने लग गया था, मानो स्वाध्याय मण्डल ही इन अतिथियोंके बहाने स्वयं ही अनेक मुखोंसे वेदमूर्तिका प्रशंसागान कर रहा हो।

उस दिन प्रातः ८ बजे यज्ञ शुरु हुआ जिसमें श्री पंडितजी एवं उनकी सहधर्मचारिणी दोनोंने सोत्साह भाग लिया। श्री पण्डितजीके मुखसे वेदमंत्रोंको सुननेका सौभाग्य अनेकोंने प्राप्त किया। गंभीर स्वरसे उच्चारित वेदमंत्रोंकी ध्वनिने प्राचीनकालके ऋषियोंके तपोवनोंका दृश्य पुनः एकबार नवीन कर दिया।

इसके बाद अन्य पूजायें हुईं और अन्तमें 'गणपति' की अर्चना हुई। इस अर्चनाने मानों भक्तोंके हृदयोंमें भक्तिरसका संचार कर दिया।

शामको करीब ४॥ बजे मण्डलके प्रांगणमें ही वेदमंदिरमें श्री पंडितजीके सम्मानमें एक सभा संघटित हुई। इसमें अनेकों श्रोता बाहरसे भी आए थे, कुछ श्री पंडितजीके चाहते भी आए, इस प्रकार वेदमंदिर श्रोताओंसे पूरी तरह भर गया था। सभाका प्रारंभ वैदिक राष्ट्रगीत 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो' इस मंत्रके पाठसे हुआ। वैदिक प्रार्थनाके बाद अहमदाबादके सुप्रसिद्ध वकील एवं जनसंघी नेता श्री वसन्त गजेन्द्रगडकरने अपनी श्रद्धांजली अर्पित करते हुए कहा—

'श्री पंडितजी अपने प्रयत्नसे इस स्थिति पर पहुंच चुके हैं कि हम जैसे साधारणोंको उनका अभिनंदन करनेका भी अधिकार नहीं है। श्री पंडित जीकी महत्ता तो वे ही लोग जान सकते हैं, जो सर्वदा उनके सायेमें रहते हैं। हम जैसे आगन्तुक तो उनके दर्शनसे ही कृतकृत्य हो जाते हैं।'

उनके बाद दक्षिण गुजरातके संघ प्रचारक श्री केशवराव देशमुखने अपने शब्दोंमें श्री पंडितजीको श्रद्धांजली अर्पित की।

उनके बाद उम्बरगांवके श्री दत्तात्रेय ए. देशपाण्डेने कहा कि 'श्री पंडितजीका कार्य इतना विशाल है कि उसकी कल्पना करना कठिन है। वेदोंका उद्धार इन्हींका श्रेय है। जो इनके द्वारा लिखित पुस्तकोंको पढता है, वही इनकी विद्वत्ताको जान सकता है।'

इसके पश्चात् अमळनेर संस्कृत विद्यामंडल संचालक डॉ. दा. वि. गर्गेने अपने भाषणमें कहा— कि हमने अमरावतीमें संस्कृत विद्यामंडलकी स्थापना की, उसके पीछे श्री पंडितजीकी प्रेरणा थी। एकलव्यने गुरु द्रोणाचार्यकी प्रतिमा बनाकर शस्त्रास्त्रविद्या सीखी, उसी प्रकार हमने श्री पंडित-जीकी फोटोसे प्रेरणा लेकर शालाकी स्थापना की, और यह परमात्माकी कृपा एवं श्री पंडितजीका आशीर्वाद ही है कि वह विद्यामंडल आज सुचारुरूपसे चल रहा है।'

*

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इस प्रकार अपने विचारोंको व्यक्त करनेके बाद उन्होंने विद्यामंडलकी ओरसे १०१) रु. का उपहार दिया।

हाईस्कूल, दहाणुके संस्कृत शिक्षक श्री भंडारीने भी श्री पंडितजीको अपनी शुभकामना प्रकट की।

इसके बाद बम्बईके श्री. रा. टिकेकरने भी अपने शब्दोंमें पंडितजीको श्रद्धांजलि अर्पित की।

अन्तमें संस्थाके पंडित श्रुतिशील शर्माने कहा कि भोलेनाथ शंकरकी तरह भोले बाबा श्री पंडितजी भी जल्दी ही प्रसन्न हो जाते हैं और जिसको जो चाहे वरदान दे देते हैं, भले ही बादमें उसके कारण उन्हें नुकसान उठाना पडे।

इसके बाद उन्होंने पंडितजीके जीवनकी कई घटनायें सुनाईं।

अन्तमें श्री पंडितजीने सम्मानका प्रत्युत्तर देते हुए एवं दीर्घजीवनके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए कहा कि– 'आज यदि कोई सौ वर्ष जीवित रह जाए तो उसे लोग सिरपर उठा लेते हैं, पर प्राचीनकालमें सभी प्रायः १०० से ऊपर ही आयुके होकर मरते थे। भगवान् श्रीकृष्ण १२० वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवासी हुए, तब बलरामको बहुत दुःख हुआ और उन्होंने प्राणायामसे प्राणोंको छोडा। जब ये दोनों स्वर्गवासी हुए उस समय भगवान् कृष्णके माता पिता जीवित थे, अब आप ही कल्पना कर सकते हैं कि उस समय उनकी आयु कितनी रही होगी। आज भौतिकता बढ गई है, इसीलिए आयु भी कम हो गई है। आयुको यदि बढाना हो, तो हमें अध्यात्मकी ओर लौटना होगा, यही एक मात्र मार्ग है।'

श्री पंडितजीके इस वक्तव्यके पश्चात् राष्ट्रगीतके अनन्तर सभा समाप्त हुई।

(भारतीय तिथिके अनुसार श्री पंडितजीका जन्मदिन भाद्रपद कृष्णा षष्ठी तदनुसार ६ अक्टूबर है। उस दिन एक छोटेसे समारोहका आयोजन किया गया है। जिसमें श्री गुरुजी गोलवलकर भी उपस्थित रहेंगे। उसका विवरण वैदिक धर्मके आगामी अंकमें दिया जाएगा।)

卐 卐 卐

स्वर्णिम अवसर] [स्वर्णिम अवसर

वेदप्रेमियोंके लिए

स्वर्णिम अवसर

श्री पं श्री. दा. सातवलेकरजीके १०० वीं पुनीत वर्षगांठके उपलक्ष्यमें स्वाध्याय-मण्डलके प्रकाशनोंपर २५ % कमीशन देनेका निश्चय किया गया है। इसके अलावा जो सज्जन १००) से ज्यादा मूल्यकी पुस्तकें मंगवायेंगे, उनकी पुस्तकोंको भेजनेका व्यय भी मण्डल देगा। यह सुविधा केवल दिसम्बर १९६६ तक ही है।

अतः शीघ्रता करें और इस योजनासे ज्यादासे ज्यादा लाभ उठायें। मुफ्त सूचीपत्रके लिए लिखें।

व्यवस्थापक

स्वाध्याय-मण्डल,

पोस्ट— 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)',

पारडी [जि. बलसार] (गुजरात)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेदोंका स्वाध्याय--नवजीवनदायक

मुख्यतया मन्त्रशक्तिसे मेरी मृत्यु-मुखसे मुक्ति

(लेखक— श्री पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड)

卐

श्रावणी उपाकर्म पर्वका प्रमुख सन्देश वेदोंके नियमित और विशेष रूपसे स्वाध्यायका है क्योंकि जैसे इस पर्वके लिये दक्षिण भारतमें प्रचलित उपाकर्म शब्द सूचित करता है इस दिनसे वैदिक स्वाध्यायका अति विशेष रूपसे उपक्रम वा प्रारम्भ किया जाता था। इस पर्वकी जो विधि आजकल प्रचलित है उसमें चारों वेदोंके आदि और अन्तके मंत्रोंका पाठ किया जाता है पर यह तो वस्तुतः एक अनुकल्पके रूपमें है। ऋग्वेदके शांख्यायन गृह्य सूत्र अ. ४, ख. ५ में जो मुख्य कल्प वा विधान है वह 'अक्षतसक्तूनां धानानां च दधि-घृत-मिश्राणां प्रत्यर्चं वेदेन जुहुयात्॥ (सूत्र ६८५)' यह है जिसका तात्पर्य यह है कि अक्षत और सत्तू तथा दधि और घृतसे मिश्रित धानोंकी वेदके प्रत्येक मन्त्रको पढकर आहुति दी जाए, दूसरे शब्दोंमें इस दिनसे ऋग्वेद पारायण यज्ञका प्रारम्भ किया जाय जो ४ मासतक चलता रहे। मोतीलाल रविशंकर कृत गुजराती टीकामें इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए ऋग्वेदके मन्त्रोंकी संख्या भी की है।

ऋचां दश सहस्राणि, ऋचां पंचशतानि च।
ऋचामशीति पादश्च, एतत्पारणमुच्यते॥

अर्थात् ऋग्वेदके मंत्रोंकी संख्या १०५८० है। इन सब मंत्रोंका पारायण करते हुए यज्ञमें आहुति दी जाय यही मुख्य कल्प वा विधि है। जो इतना नहीं कर सकता उनके लिये अनुकल्प वा गौण पक्ष ये हैं कि—

सूक्तानुवाकाद्याभिरिति वा। सू. ६८६
अध्यायार्षेयाद्याभिरिति वा॥ सू. ६८७

अर्थात् प्रत्येक सूक्त और अनुवाककी प्रारम्भिक ऋचाओं अथवा यदि वह भी संभव न हो तो प्रत्येक अध्यायकी प्रारम्भिक ऋचाओंसे यज्ञ किया जाय।

निर्णय सागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित ऋग्वेद संहिताकी भूमिकामें ऋग्वेद कल्पद्रुम आदिके आधारपर इस ब्रह्मपारायण यज्ञ वा संहिता होमकी विधिका उल्लेख करते हुए इस विषयको बहुत स्पष्ट किया गया है—

अथ संहिताहोमकरणाशक्तस्यानुकल्पाः
कैश्चिदुच्यन्ते।
ते च यथा सूक्तादिभूताभिः ऋग्भिर्जुहुयादित्येकः।
अनुवाक्यादिभिर्जुहुयादिति द्वितीयः।
अध्यायाद्याभिर्जुहुयादिति तृतीयः।
मण्डलाद्यन्तभूताभिर्ऋग्भिर्वा होतव्यमिति चतुर्थः।
इत्येवं चत्वारोऽनुकल्पा अशक्तं प्रत्युपतिष्ठन्ते॥

अर्थात् जो सम्पूर्ण संहिता द्वारा हवन यज्ञ करनेमें असमर्थ हैं उन्हींके लिये कई आचार्योंने अनुकल्प वा गौण पक्ष बताये हैं। एक यह कि सूक्तके आदिकी ऋचाओंसे यज्ञ करें। दूसरा अनुकल्प यह है कि अनुवाकोंके प्रारम्भकी ऋचाओंसे यज्ञ करें। तीसरा यह कि अध्यायके आदिकी ऋचाओंसे और चतुर्थ यह कि मण्डलके आदि और अन्तकी ऋचाओंसे हवन किया जाय। अब तो इन चारों अनुकल्पोंके भी अतिरिक्त अत्यन्त गौण पंचम अनुकल्प प्रचलित है कि वेदोंके आदि और अन्तके मंत्रोंका उच्चारण किया जाता है। इससे भी इतना स्पष्ट है कि इस श्रावणी पर्वका मुख्य सन्देश समस्त आर्य नरनारियोंका ध्यान वेदोंके नियमित रूपसे स्वाध्यायकी ओर आकृष्ट करना ही है। यह खेदकी बात

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है कि अबतक आर्य नरनारियोंका ध्यान इस कर्तव्यकी ओर नहीं गया। जिसे मनु महाराजने 'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य, तपः परमिहोच्यते।' इत्यादि श्लोकोंमें परम तप और वैदिक धर्मोद्धारक शिरोमणि महर्षि दयानन्दजी सरस्वतीने–

'वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है। वेदका पढना पढाना और सुनना सुनाना सब आर्योंका परम धर्म है।'

इस आर्य समाजके तृतीय नियममें परम धर्मके नामसे पुकारा है। अतः इस पवित्र पर्वपर प्रत्येक आर्यको यह व्रत अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये। (यदि उसने अब तक नहीं लिया) कि वह प्रतिदिन परिवार सहित कमसे कम एक मंत्रका अर्थ सहित स्वाध्याय अवश्य ही करेगा और सन्ध्या, हवन और स्वाध्याय किये विना भोजन करना पाप समझेगा। ऐसा करनेसे जो विशेष लाभ होगा उसका हमारे श्रद्धेय आचार्यवर्य स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराजने अपने 'आर्योंके नित्य कर्म' नामक लघु पुस्तकमें इन शब्दोंमें वर्णन किया था।

'अग्नि होम इकट्ठे करनेके पश्चात् सब गृही स्वाध्यायमें लग जायें। इसमें वृद्ध, बाल, नर, नारीका कोई भेद नहीं। बूढे, जवान, बाल, स्त्री, पुरुष सबको ही स्वाध्याय नित्य प्रति करना चाहिये। धर्मके मर्मको जाननेके लिये स्वाध्यायसे बढकर अन्य कोई साधन नहीं है। प्रातःकालका स्वाध्याय क्रिया योगका एक अंग महामुनि पतञ्जलिने बतलाया है। तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः (योगदर्शन २१) और समाधिकी सिद्धिके लिये उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि आर्य गृहमें कोई भी स्त्री पुरुष ऐसा न होना चाहिये जो नित्य स्वाध्याय न कर ले। इससे धर्ममें तुम्हारी श्रद्धा बढेगी। आपत् कालमें भी धैर्य स्थिर रखनेका अभ्यास पडेगा इत्यादि।' इतना स्वाध्यायके विषयमें सामान्य निवेदन करनेके पश्चात् वेदोंके जीवन भर स्वाध्यायका जो परिणाम मैंने (सित० अक्तू० १९६३) में भयंकर रुग्णताकी अवस्थामें देखा उसका संक्षेपसे निर्देश करना उचित समझता हूं जिसके लिये जाननेवाले अनेक मित्रों ने मुझे प्रेरित किया है ताकि अन्य भी भयंकर रुग्णता, तथा अन्य आपत्ति कालमें उससे लाभ उठा सकें। जैसे कि अनेक पाठकोंको ज्ञात होगा, सित० अक्तू० १९६३ में दुर्भाग्यवश टाइफाइड, निमोनिया, अतिसार आदिके भयंकर और अर्धांगके मृदु आक्रमणके कारण मैं ऐसी अवस्थामें पहुंच गया था जिसे वेदमें 'यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।' इन शब्दोंमें कहा जा सकता है। मरणासन्न अवस्था उस अत्यन्त शोचनीय अवस्थासे जिसमें मेरे बचनेकी आशा ही प्रायः सब डाक्टरों और मित्रोंने छोड दी थी कैसे मंगलमय दयासागर भगवान्‌की अपार कृपा और वेदमंत्रोंकी शक्तिसे मेरा उद्धार हुआ, इसके लिये कुछ स्वस्थ होने पर जनवरी १९६४ में लिखी अपनी डायरीके पृष्ठोंको संक्षेपसे उद्धृत करना अनुचित न होगा। मैंने लिखा था ... ...

'उस अत्यन्त शोचनीय शारीरिक दशामें भी अन्दर अन्दर ओ३म् और गायत्री जप उपांशु रूपमें चलता रहा तथा अनेक वेद मंत्र मनमें आते रहे जिनकी शक्तिसे मैं समझता हूं कि मेरी आनन्दमयी स्थिति बनी रही और एक क्षणके लिये भी मैं व्याकुल न हुआ। विशेष रूपसे जो वेद मंत्र बार बार सामने आते रहे (यद्यपि ऊपर ऊपरसे मैं बेहोशीकी हालतमें था और प्रायः मित्र ऐसा ही समझते थे) वे निम्नलिखित थे, ...

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं
न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन।
सोममिन्वा सुन्वन्तो याचता
वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥ १ ॥
(ऋग्वेद १०, ८५, ५,)

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ २ ॥
(ऋ० ८, ६८, ११ साम० ११७०)

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत
द्राघीय आयु प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन
शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥ ३ ॥
(ऋ० १०, १८, २)

अपाम सोमममृता अभूम अगन्म
ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः
किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥ ४ ॥
(ऋ० ८, ४८, ३)

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा
च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ५ ॥
(ऋ० १, १६४, ३१)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उद्यानं ते पुरुष नावयानं,
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आहि रोहेममृतं सुखं रथमथ
जिर्विर्विदथमावदासि ॥ ६ ॥ (अथर्व० ८, १, ६)

भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि ॥ ७ ॥
(ऋग्वेद २, ३३, ४)

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय
मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ८ ॥
(अथर्व० १०, ८, ४४)

इमे जीवा विमृतैरावृत्रन्नभूद्
भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्रांचो अगाम नृतये हसाय
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ९ ॥
(ऋग्वेद १०, १८, ३)

विश्वदानी सुमनसः
स्याम पश्येमनुसूर्यमुच्चरन्तम् ।
तथा करद् वसुपतिर्व सूनां देवाँ
ओहानो अवसागमिष्ठः ॥ १० ॥ (ऋ० ६, ५२, ५)

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः
प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः ।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे
ज्योग् जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥ ११ ॥
(ऋ० १०, २७, ७)

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं
हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं
स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ १२ ॥
(ऋ० ६, ४७, ११)

इन्द्रो अंग महद्भयमभीषदपचुच्युवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥१३॥ (ऋ० २, ४१, १०)

बृहदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये ।
साधु कृण्वन्तमवसे ॥ १४ ॥ (ऋ० ८, ३२, १०)

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये
मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्
विश्वशम्भूरवस साधुकर्मा ॥ १५ ॥ (यजु० ८, ४५)

अद्याद्या श्वः श्व इन्द्र त्रास्व परे च नः ।
विश्वा च नो जरितॄन् सत्पते
अहादिवानक्तं चं रक्षिषः ॥ १६ ॥
(ऋ० ८, ६१, १७)

अभीषुणः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतये ॥ १७ ॥ (यजु० ३६, ७)

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृतं स्मर ॥ १८ ॥
(यजु० ४०, १५)

सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ १९ ॥ (ऋ० १९, ९)

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ २० ॥
(यजु० ३, ६०)

इन मन्त्रोंका अर्थ मैंने अपनी डायरीमें नहीं लिखा क्योंकि इसकी आवश्यकता न थी। स्वाध्यायशील विद्वान् इनके अर्थको समझ ही जायेंगे। अन्य पाठक यदि चाहेंगे तो फिर कभी इनका अर्थ लिख दिया जायगा। यहाँ अर्थ देनेसे लेख का यलेवर बहुत बढ जायेगा। अतः अर्थ देना उचित नहीं प्रतीत होता। भावार्थके रूपमें अभी तो इतना ही लिख देना पर्याप्त समझता हूं कि इनमेंसे कुछ मन्त्रोंमें भगवान्को मंगलमय पिता माता और रक्षकके रूपमें और उसे डाक्टरोंका बडा डाक्टर मान कर रक्षाके लिये प्रार्थना है, कइयोंमें सदा प्रसन्न रहने और नित्य आनन्दमयी अवस्थामें जीवन व्यतीत करते हुए आगे आगे बढते रहनेकी भावना है, कइयोंमें आत्माको अजर अमर मान कर निर्भय बननेकी भावना है। इस प्रकार ये सभी मंत्र अद्भुत स्फूर्तिदायक हैं जिनका वेदोंके नित्य स्वाध्यायके कारण उस मरणासन्न और लगभग बेहोशीकी अवस्थामें भी मेरे मनमें स्मरण बना रहा। आगे फिर मैं अपनी डायरीसे इनके विषयके अपनी अनुभूतिको उद्धृत करता हूं। ...

'जब कभी कोई कोई दर्शक तथा डाक्टर भी आकर कहने लगते थे कि इस बीमारीमें Invalidating Condtion (अपांग करनेवाली दशा) हो जाती है। यदि बीमार अच्छा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भी हो जाता है तो भी वह जीवन भर अपग सा हो जाता है। या तो वह चल फिर नहीं सकता, हाथ पैरकी शक्ति मारी जाती है वा जबान लडखडाने लगती है। वह ठीक तौर पर बातचीत नहीं कर सकता। कमसे कम ६ मास तक तो ऐसी ही अवस्था रहती है। ये बातें सुनकर मुझे हंसी आती थी और बार बार इस वेद मंत्रका स्मरण हो उठता था कि...

इन्द्रो अंग महद् भयमभीषदपचुच्यवत्।
स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ (ऋ. २।४१।१०)

अर्थात् परमैश्वर्य सम्पन्न प्रभु जो सदा एक रस और सर्वज्ञ हैं सामने आये हुये बडेसे बडे भयको भी दूर कर देते हैं।

इस तथा ऊपर लिखित मन्त्रोंके मननसे एक क्षणभरके लिये भी उद्विग्नता मेरे पास नहीं फटक सकी। यह परमेश्वरकी अपार कृपा रही जिसके लिये उसे कोटिशः धन्यवाद देता हूं।

अपनी डायरीके अन्तिम शब्दोंका कुछ संकोचके साथ उद्धृत करने लगा हूं कि कुछ पाठक इसको और रूपमें न ले लें किन्तु इस आशासे कि इससे गायत्री जप और सन्ध्योपासनाके महत्त्वकी और आर्य नरनारियोंका ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट हो सकता है। मैं इसको उद्धृत करना ठीक समझता हूं। वह अंश यह है—

'एक बात यहां और उल्लेखनीय है कि इन बीमारीके दिनोंमें भी मेरी मानसिक और आत्मिक शक्तिका विकास ही हुआ, उनमें न्यूनता नहीं आई। यद्यपि १२ अक्तू. १९६३ को २५ दिन गुरुकुल कांगडीके श्री श्रद्धानन्द सेवाश्रममें रहनेके पश्चात् 'आनन्दकुटीर' जानेपर मैं अधिक देर तक बैठ भी नहीं सकता था तथापि कुछ देर बैठकर और फिर लेट कर २-२½ घण्टेका समय गायत्री जप, सन्ध्योपासना और आत्मचिन्तनके लिये देता रहा। कुछ अधिक स्वस्थ होकर २६ नवंबरको देहली आनेके पश्चात् तो प्रातः ३, ३½ और सायं लगभग १ घण्टेका समय ध्यान, भजन और गायत्री जप आदिके लिये देता रहा। इस बीचमें मेरी धर्मपत्नी देवी विद्यावतीजीने घरमें दो बार सामवेद पारायण किया और वेदोंका स्वाध्याय भी चलता रहा। स्मृति शक्तिमें भी इस बीमारीके कारण न्यूनता नहीं हुई प्रत्युत कुछ वृद्धि ही हुई जिसके लिये मंगलमय भगवान्को कोटिशः धन्यवाद है।'

इस प्रकार मैंने वेदोंका स्वाध्याय और मनन तथा सन्ध्योपासना और गायत्री जप कितना नवजीवनदायक है इसको अपने वैयक्तिक अनुभवके आधारपर दिखानेका यत्न किया है। इससे आचार्यवर्य श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराजके स्वाध्याय विषयक इस कथनकी सत्यता प्रमाणित होती है कि 'स्वाध्यायसे धर्ममें तुम्हारी श्रद्धा बढेगी और आपत्कालमें भी धैर्य स्थिर रखनेका अभ्यास पडेगा।'

अन्तमें मैं पुनः एक बार समस्त धर्मप्रेमी आर्य नर-नारियोंसे निवेदन करना चाहता हूं कि वे श्रावणी पर्वपर वेदोंके प्रतिदिन स्वाध्यायका व्रत अवश्य ग्रहण करके उसे दृढतासे निभाते रहें। साथ ही सन्ध्योपासना गायत्री जप और हवनका भी सब श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करके लाभ उठायें जिससे अपने पवित्र आर्य जीवनोंद्वारा हम वैदिक धर्मकी ओर सबको आकृष्ट कर सकें।

ø ø ø

संस्कृत-पाठ-माला

[२४ भाग]

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन करनेसे एक वर्षमें आप स्वयं रामायण-महाभारत समझ सकते हैं।

२४ भागोंका मूल्य	१२.००	१.२५
प्रत्येक भागका मूल्य	.५०	.१२

संस्कृत पुस्तकें

२ सूक्ति-सुधा	.३१	.०६
३ सुबोध-संस्कृत-ज्ञानम्	१.२५	.२५
४ सुबोध संस्कृत व्याकरण भाग १ और २, प्रत्येक भाग	.५०	.१२
५ साहित्य सुधा (पं. मेधाव्रतजी) भाग १	१.२५	.२५

मंत्री— स्वाध्याय मण्डल, पो- 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' पारडी, [जि. बलसाड]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अभिज्ञान-शाकुन्तलका नायक दुष्यन्त

(लेखक— डॉ. बद्रीप्रसाद पंचोली, प्राध्यापक, गवर्नमेण्ट कॉलेज, विजयनिवास, मदनगंज, किशनगढ)

[वैदिक-धर्मके जनवरी १९६५ के अंकमें पं. सूर्यनारायण व्यासने 'शाकुन्तलकी कुछ समस्यायें' शीर्षक लेखमें दुष्यन्तके चरित्र पर नैतिकताकी दृष्टिसे प्रश्नचिह्न लगाया है। भारतके सर्वमान्य सांस्कृतिक कविकी विश्वप्रथित व 'सर्वोत्तम' रचनासे सम्बद्ध समस्या पर अधिकारी विद्वानोंकी विवेचना देखनेकी प्रबल इच्छा थी; परन्तु ६ माह व्यतीत हो जाने पर भी 'वैदिकधर्म' में या अन्यत्र ऐसी विवेचना प्रकाशित नहीं हुई जो समस्याका समाधान कर पाती। अतएव लेखकने इस विषयमें अपनी विनम्रसम्मति प्रकट करना उचित समझा। आदरणीय व्यासजीका इससे तनिक भी समाधान हो पाया तो लेखक अपना श्रम सार्थक समझेगा।

— लेखक]

महाकवि कालिदास श्रृंगार-रसके कवि हैं। प्राचीन काल से ही उनकी अप्रतिम ख्याति श्रृंगार और ललितोद्गारके क्षेत्रमें रही है। परवर्ती महाकवि तुलसीदासकी तरह न तो वे व्यक्तिगत जीवनमें सन्त कहे जा सकते हैं और न साहित्यिक-क्षेत्रमें मर्यादावादी ही। उन्होंने अपने काव्यमें सर्वत्र लौकिक-प्रेमका चित्रण किया है। यहाँ तक कि पार्वती और शिवके प्रेमको भी लौकिक-आधार पर ही प्रस्तुत किया है। इसलिए अभिज्ञान-शाकुन्तलमें वर्णित प्रेमको यदि नैतिकता की दृष्टिसे परखना हो तो उसके साथ कविके सभी काव्योंको भी इस दृष्टिसे परखना चाहिए।

'विक्रमोर्वशीयम्' और 'मालविकाग्निमित्र' तो श्रृंगारिक नाटक हैं ही; 'कुमारसंभव' में वटुरूप शिवका पार्वतीको पकड लेना क्या नैतिकताकी कसौटी पर खरा उतरेगा? शिव-पार्वतीका सुरत-वर्णन भी मर्यादाकी सीमाओंसे बाहरका है। 'मेघदूत' में भी प्रेमका ही साम्राज्य है। रघुवंशमें घटनाविस्तार अधिक होनेपर भी प्रेम-प्रसंगोंकी कमी नहीं है। 'उपमा' के सम्राट इस कविकी अधिकतर उपमाओंके उपमान श्रृंगारिक-जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं। अतएव कालिदासके काव्यको 'श्रृंगार बनाम नैतिकता' की दृष्टिसे परखना उचित नहीं जान पडता। श्रृंगार साहित्यमें रसराज माना गया है और काम सृष्टिकी आदि-शक्ति। वेदोंने उद्घोष किया है— कामस्तदग्रे समवर्तत। देवताओं तकसे अभिपूजित और मानवोंकी आदर्शभूता श्रद्धा भी काम की पुत्री है। अतएव काम असामाजिक या अनैतिक नहीं माना जा सकता। गीतामें कृष्णने कामको अपनी विभूति बतलाया है— धर्माविरुद्धो कामोऽस्मि। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यका आधार लोककी मूलभूत प्रवृत्ति कामको बनाया है। आश्चर्य नहीं यदि शाकुन्तलके प्रारंभमें 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' शब्दों द्वारा कविने व्यंजनासे कामको संकेतित किया हो। इस कृतिमें उन्होंने प्रेमका उदात्तीकरण प्रस्तुत किया है और दुष्यन्त उनके इस उद्देश्यका साधक ज्ञात होता है।

नाटकका प्रारंभ ही श्रृंगारिक-वातावरणके वर्णनसे होता है—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि॥ [1]

इस वातावरणमें सारे पारिषद चित्रवृत्तिके एकाग्र हो जानेसे चित्रलिखेसे हो जाते हैं— 'अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव विभाति सर्वतो रंगः।' स्पष्ट है कि यह वर्णन चित्तको एकाग्र करनेके उद्देश्यसे किया गया है। कहना न होगा कि शाकुन्तलका सारा श्रृंगारिक-वातावरण किसी उद्देश्यकी संसिद्धिके लिए ही उपस्थित किया गया है। दुष्यन्तके सम्पूर्ण चरित्र पर दृष्टिपात करने पर इस उद्देश्यकी ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता।

दुष्यन्तके चरित्रका एक अंश वह है जब वह मृत्युकी क्षण प्रतिक्षण प्रतीक्षा करते हुए भयक्लिन्न होकर भागे जाते हुए हिरणकी ग्रीवाकी भंगिमाकी अभिरामता मात्र [2] देखता है। 'सूत, दूरममुना सारंगेण वयमाकृष्टा'— कथनसे व्यंजित

१ अभिज्ञान शाकुन्तल १।४. २ अभिज्ञान शाकुन्तल १।७.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

होता है कि दुष्यन्त यहाँ परिस्थितिवश अपने स्वभावसे दूर हट गया है और 'आयुष्मन्? उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः' कथनमें जैसे सूत दुष्यन्तकी रागी मनोवृत्तिको 'ऊबडखाबड जमीन' की संज्ञा देकर संयमकी शिक्षा देता प्रतीत होता है। 'संप्रति समदेशवर्ती न ते दुरासदो भविष्यति' कथनसे बदली हुई मनोवृत्ति द्वारा सुख पानेकी ओर भी संकेत किया गया प्रतीत होता है। 'तेन हि मुच्यन्तामभीषवः' कथनमें जैसे भविष्यके प्रति आश्वस्त होकर स्वयंको वर्तमान परिस्थितिमें बहनेके लिए दुष्यन्तने छोड दिया है। स्वच्छन्द इन्द्रियोंके घोडे रजोगुणके द्वारा भी अलंघनीय होकर बढ चले हैं [३]। इस पृष्ठभूमिमें दुष्यन्तका वह स्वरूप हमारे सामने आता है जिसे व्यासजीने कामुक और दुःशील कहा है। वस्तुतः यहाँ नायककी रागी चित्तवृत्तिका चित्रण है जो उस भावकी पृष्ठभूमि है जिसे अनुराग कहा जाता है। 'राजाप्रकृतिरंजनात्' व्युत्पत्तिके अनुसार राजाका रागात्मकतासे निकट-सम्बन्ध होता है। राग प्रकृति (प्रजा) से भी हो सकता है प्राकृतिक वातावरणसे भी होना संभव है। सत्य इतना है कि राजा होनेके नाते दुष्यन्तमें रागात्मिका-वृत्ति सहज रूपमें—जन्मजातप्रवृत्तिके रूपमें विद्यमान है। प्रकृतिके उन्मुक्त वातावरणमें सामाजिक मर्यादाओंसे तटस्थ हो जाने पर यह चित्तवृत्ति अपना प्रभाव दिखाती है। इस वातावरणमें राजाकी तरह उसका सेनापति भी मृगयाको विनोद मात्र समझने लगा है [४]।

परिस्थितिवश स्वच्छन्दताकी ओर उन्मुख दुष्यन्तकी चित्तवृत्तिको सामना करना पडता है संस्कृतिके केन्द्र तपोवन का— 'भो राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।' दुष्यन्त आश्रमोंके इस नवीन वातावरणके प्रति पुनीत भावना व आस्था व्यक्त करता है। सांस्कृतिककेन्द्रकी सीख है राजाके लिए—

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि। [५]

'एष प्रतिसंहृतः' कथनमें राजाके संयत होने व 'पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि' कथनमें संयमका फल मिलनेकी ओर संकेत है; किन्तु पुत्रप्राप्तिमें देरी है; इसी तरह मनः संयम भी धनुषके प्रतिसंहृत करनेसे कठिन है। इसी द्वन्द्वमें नाटककी वस्तुका विकास होता है। हमारे कविका समाधान है कि धनुष तो प्रतिसंहृत न हो केवल मन ही संयत हो। इसीलिए माढव्यकी रक्षाके लिए वह दुष्यन्तको पुनः शस्त्र उठानेको विवश कर देता है और शिक्षा भी दिला देता है—

प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः। [६]

विवेकशील धनुर्धर ही कालिदासके मतमें राज्यकी रक्षामें समर्थ हो सकता है। दूसरी ओर वे चाणक्यके 'राज्यमूलं इन्द्रियजयः [७]' कथनसे सहमति प्रकट करते ज्ञात होते हैं। रागी मनोवृत्तिका संयमके साथ द्वन्द्व उपस्थित करना नाटककारका उद्देश्य ज्ञात होता है। इस द्वन्द्वके समाहारके लिए उसने अनुरागका आश्रय लिया है जिसका एक छोर रागको और दूसरा संयमको छूता है और धीरे धीरे इस प्रवृत्तिका उदात्तीकरण (Sublimation) हो जाता है।

तपोवनके वातावरणमें रागात्मकताको कोई स्थान नहीं है (– भिन्नो ; रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन–कथनकी व्यंजना द्रष्टव्य)। उसका वातावरण शान्त है; परन्तु रागी दुष्यन्त उस वातावरणको भी भवितव्यताका साधन [८] मात्र समझता है। तपोवनमें वह तपस्वी–कन्याओंको देखता है। कन्या शब्द दीप्त्यर्थक कन् या कामनार्थक कम् धातुसे व्युत्पन्न है। इस प्रकार कन्या शब्दका अर्थ है– दीप्तिमती या कामना किए जाने योग्य। प्रस्तुत प्रसंगमें कन्या शब्दका प्रयोग इस बातको व्यंजित करता है कि तपस्वी–कन्यायें सौन्दर्य–दीप्त व कामना किए जाने योग्य (वयवाली) थीं। रागी चित्तवृत्तिके दुष्यन्तका शकुन्तलाकी ओर आकृष्ट होना होना यहाँ अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

दुष्यन्तके मनमें प्रथम तो सौन्दर्यदर्शनका लोभ मात्र जाग्रत होता है। इसी लोभसे वह उन कन्याओंको वृक्षकी

---

३ अभिज्ञान शाकुन्तल १।८ [ऐसा ज्ञात होता है कि यह रथके घोडोंका वर्णन दुष्यन्तकी रागरंजित इन्द्रियोंकी दशाका ही वर्णन है।

४ अभिज्ञान शाकुन्तल २।५ ५ अभिज्ञान शाकुन्तल १।११ ६ अभिज्ञान शाकुन्तल ६।२९

७ चाणक्यसूत्राणि४ ८ अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र। अभिज्ञान शाकुन्तल १।१६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आंडसे देखने लगता है। विशेषोन्मुख लोभ ही प्रेम है[९]। परिस्थितिजन्य इस प्रकारके लोभका ही विकास आगे प्रेमके रूपमें हुआ है। शकुंतलाके सौन्दर्यको लोभनीय कह कर[१०] दुष्यन्तने अपने मनोगत लोभका परिचय दे दिया है। उधर अनसूयाने 'इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया ज्योत्स्ना' कथनमें शकुन्तलाके विवाहके विषयमें स्वाधीन होनेकी ओर संकेत किया है। शकुन्तलाके- 'रमणीये खलु काल एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना नवज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः' कथनमें भी यही बात व्यंजित होती है। प्रियंवदाने शकुन्तलाके मनोरथको 'अहं अपि आत्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति' शब्दोंमें व्यक्त कर दिया है। इन बातोंको सुनकर भी रागी चित्तवृत्ति व तद्गत लोभसे समवेत दुष्यन्तने विवेकको तिलांजलि नहीं दी। उसने अपने श्रेष्ठ (आर्य)-मनको शकुन्तलाकी ओर आकृष्ट होते देखकर अन्तःकरणकी प्रवृत्तिको प्रमाण मानकर शकुन्तलाको क्षत्रियसे विवाह किये जाने योग्य समझ लिया—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥[११]

दुष्यन्तके इस कथनकी तुलना मर्यादावादी तुलसीके रामकी इस उक्तिसे कीजिए—

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मन छोभा।
× × ×
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी।[१२]

यहाँ रामके समान दृढ विश्वास दुष्यन्तमें भी दिखाई देता है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ राम अपने मनोविकारको प्रकट करके ही शान्त रह गये वहाँ दुष्यन्त विवाहके लिए भी उत्सुक व कृतप्रयत्न हो गया। केवल इसीसे उसे निर्मर्याद व दुःशील नहीं कहा जा सकता। यह सब परिस्थिति व उसकी स्वयंकी प्रवृत्तिके अनुकूल ही था।

उसका यह कथन मिथ्याभिमानका सूचक नहीं माना जा सकता कि पुरुवंशीके शासनमें कोई तपस्वी-कन्याओंके प्रति अविनयका आचरण नहीं कर सकता।[१३] उसने कहीं अशिष्टताका व्यवहार नहीं किया। उसके जैसे अतिथिके विषयमें शकुन्तलाकी सखियोंने ठीक ही कहा है कि 'यदि कण्व वहां होते तो प्राणोंसे भी अधिक प्रिय वस्तु (शकुन्तला) को देकर अतिथिको कृतार्थ करते।' दुष्यन्तने स्वयं तो सबसे पहले यह निश्चय किया कि क्या वह उसके लिए प्राप्तव्य है? यह जानकर कि वह अप्सरा व विश्वामित्रकी कन्या है उसका मनोरथ सिद्ध हो गया। आगे उसने यह भी जान लिया कि शकुन्तला आजन्म ब्रह्मचारिणी नहीं रहना चाहती। कण्व उसे उपयुक्त पात्रको सौंपेंगे। वह ब्राह्मणकन्या समझकर जिसे अग्निवत् अस्पृश्य समझता था वह उसके लिए स्पर्शक्षम रत्न निकली।[१४] यहींसे उसकी अभिलाषा साफल्य खोजने लगी और रागजनित लोभ अनुराग बन गया। दुष्यन्तने अपनी अंगूठी शकुन्तलाको अनृण करनेके लिए प्रदान कर दी। यह उसकी प्रथम चेष्टा है जो किसी भी तरह अनुचित नहीं मानी जा सकती। वह अब भी दुविधामें था कि कहीं शकुन्तला उसके प्रेमको अस्वीकार न कर दे। अपने मनकी साक्षीसे उसने यह भी निर्णय कर लिया कि शकुन्तला भी उससे मिलनेके लिए व्यग्र है। इस तुल्यानुरागके विश्वासने उसे आश्रमके वातावरणमें भी शकुन्तलासे मिलनेके लिए प्रेरित कर दिया। ऐसी परिस्थितिमें क्षत्रियोंके लिए विहित गान्धर्वविवाह ही एकमात्र मार्ग रह गया था। गांधर्व विवाहको सर्वोत्तम माननेकी परम्परा रही है—

गान्धर्वो ह्येष सर्वेषां विवाहानामिहोत्तमः।[१५]

९ रामचन्द्र शुक्ल— चिन्तामणिमें द्रष्टव्य लोभ व प्रीति नामक निबंध।
१० कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु संनद्धम्— अ० शाकुन्तल १।२१
११ अभिज्ञान शाकुन्तल १।२२
१२ रामचरित मानस— बालकाण्ड
१३ अभिज्ञान शाकुन्तल १।२४
१४ आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्। अ० शा० १।२७
१५ कथासरित्सागर ८।२।२१६ तथा कामसूत्रम् ३।५।२९-३०

*

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गान्धर्व–विवाह किए बिना दुष्यन्त कभी शकुन्तलासे नहीं मिलता क्योंकि वह जानता था कि शमप्रधान–तपोधन–ऋषियोंमें सूर्यकान्तमणिके समानदाहक शक्ति होती है।[१६] विदूषकसे उसने कहा था—

न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते।

इस कथनसे स्पष्ट है कि शकुन्तलाको अपने लिए पत्नी रूपमें ग्राह्या मान चुका था। वह विधाताकी अप्रतिम सृष्टि थी[१७] और उसे पाना अखण्ड पुण्योंके फलके समान था[१८] दुष्यन्तके अनुसार। प्रथम दृष्टिमें शकुन्तलाने न कामको छुपाया था, न प्रकट किया था। इसलिए दुष्यन्त दुविधामें पडा हुआ था। वह निर्व्याज पुनः तपोवनमें भी नहीं जा सकता था। जब उसे तपोवनमें जानेका और शकुन्तलाके मनोभावोंको जाननेका अवसर मिला तभी वह प्रेमोपचारमें तत्पर हुआ। दोनोंका प्रथम मिलन अनसूया और प्रियंवदाके सान्निध्यमें हुआ है। उनके सामने राजा अपनी अनन्यपरायणताका परिचय देता है।

मदन–सन्तप्ता शकुन्तला होनेपर भी शकुन्तला दुष्यन्तको विनयशील होनेके लिए कहती है— 'पौरव! रक्ष-विनयं, मदनसन्तप्तापि न खलु आत्मनः प्रभवामि। तब दुष्यन्त गान्धर्वविवाहकी बात कहकर शकुन्तलाकी पूर्वसूचित आत्मनिर्णयकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहित करता है। तदुपरान्त दोनों सहज आत्मीयताका बंधन स्वीकार कर लेते है और शकुन्तला दुष्यन्तको— 'आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय' कहकर पुनर्मिलनके लिए आमन्त्रित करती है। सारा कार्य स्वाभाविक रूपमें हुआ है। कण्वने भी 'पावक एव आहुतिः पतिता' शब्दों द्वारा दोनोंके निर्णयको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। सुशिष्यपरिदत्ताविद्याकी तरह शकुन्तला अशोचनीया बन गयी। आश्रमवासी कोई भी व्यक्ति दुष्यन्तके आचरणको अशोभनीय नहीं मानता। शकुन्तलाको भुला देनेके अतिरिक्त। उनके मतमें तो रक्षायोगकी साधना करनेवाला वह जितेन्द्रिय दुष्यन्त ऋषियोंके समान ही महत्त्वका अधिकारी राजर्षि था[१९]।

तपोवनवासी तपस्वी योगसाधना करके सर्वत्र आत्माका दर्शन करते हैं— स्वका विस्तार करके परमें परमतत्त्वको खोजते हैं। उनकी यह साधना उनकी सात्त्विकवृत्तिके उपयुक्त होती है। दुष्यन्त रजोगुणी प्रवृत्तिका है। उसने भी स्वका विस्तार करनेका प्रयत्न किया; परन्तु अपने ढंगसे। रागी वृत्तिका होनेके कारण सबसे पहले उसने स्वता खोजी अनुरागके अधिष्ठानमें—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेषयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति।[२०]

उसकी इस साधनाका अगला रूप उस समय देखनेको मिलता है जब वह वियोग–संवेदित मनसे घोषणा करवाता है—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥[२१]

'स्व' का पूर्णतनन सन्तान लाभके साथ होता है। दुष्यन्तको हेमकूट पर सर्वप्रथम पुत्रके दर्शन हुए और वह कृतकृत्य हो गया। गृहस्थ–जीवनमें स्वके विस्तारकी इतनी ही सीमा है— पत्नीसे आत्मीयता, सन्तानलाभ और परिवार। इसके बाद वानप्रस्थ जीवन प्रारंभ होता है। पौरववंशके अत्यन्त कुलव्रतको दुष्यन्त भली प्रकार जानता है—

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्। नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति विषय॥[२२]

यहाँ दुष्यन्तके मनकी प्रेम–वृत्तिका नैसर्गिक विकास देखनेको मिलता है। तपोवनमें उसका बीजारोपण होता है। भोग–भूमि राजमहलमें उसपर नीतिकी अर्गला लगी हुई है, अतः वियोगमें उसका परिष्कार होता है और 'स्वर्गादधिकतरं निवृत्तिस्थानम्'— शब्दोंसे संकेतित हेमकूटपर उसका चरमरूप देखनेको मिलता है।

मनोविज्ञान कामवृत्तिको मनुष्यकी जन्मजात–प्रवृत्ति मानता है अतः वह मानव–प्रकृतिसे अभिन्न है। उसे परिकृत करके जीवनका अंग बना लेना ही संस्कृति है। भारतीय

---

१६ अभिज्ञान शाकुन्तल २।७ १७ अभिज्ञान शाकुन्ल २।९ १८ अभिज्ञान शाकुन्तल २।१०

१९ अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वंद्वगीतः पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥ अ. शाकुन्तल २।१४

२० अ० शाकुन्तल २।२ २१ अ० शाकुन्तल ६।२३ २२ अ० शाकुन्तल ७।२०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सामाजिक-जीवनका आधार परिवार है जो मनुष्यको सब ओरसे निवृत्त होकर[२३] विशिष्ट लक्ष्यकी ओर प्रवृत्त करता है। दुष्यन्तकी दर्शन-लोभसे लेकर गांधर्व-विवाह कर लेने तककी सारी चेष्टाएँ सन्तति-प्राप्तिके लिए हैं; अतः परिवार निर्माणके उद्देश्यकी लेकर चलती हैं। इस सोद्देश्य प्रेमको कण्वाश्रम और हेमकूटके निवृत्तिप्रधान वातावरणमें विकसित होता हुआ दिखाकर कालिदासने निवृत्ति-प्रवृत्ति-समन्वय पर आधारित भारतीय संस्कृतिके एक पहलूको प्रस्तुत किया है। प्रेमविषयक भारतकी यह दृष्टि ही शाकुन्तलके कथ्यका मूलाधार है। इस प्रेमकी महिमाका विस्तार पृथिवीसे स्वर्ग तक है। 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय' के प्रेमसे शाकुन्तलके प्रेमकी तुलना करनेपर कालिदासकी सांस्कृतिक-निष्ठा प्रत्यक्षीकृत हुए बिना नहीं रहती।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि दुष्यन्तने शकुन्तलाको ठुकराया क्यों? कालिदासने दुर्वासाके शापकी कल्पना करके अपने नायकको निर्दोष दिखाया है; परन्तु किसे? उनका यह समाधान पाठकों या दर्शकोंके लिए नहीं ज्ञात होता। यह समाधान शकुन्तलाके मनमें दुष्यन्तके प्रति विश्वास उत्पन्न करनेके लिए है। 'दिष्ट्याऽकारण प्रत्यादेशी नार्य-पुत्रः' शब्दोंमें शकुन्तलाका यह विश्वास देखा जा सकता है। पति-पत्नीका पारस्परिक-निर्दोष-व्यवहार ही परिवारका मूलाधार है। इसी निर्दोषिताकी संसिद्धिके लिए शापकी सार्थकता है। अन्यथा चाहे दुष्यन्तको शकुन्तलाको स्मृति न रही हो; परन्तु वह अपनी रागी-प्रवृत्तिके कारण शकुन्तला जैसी सुन्दरीको पूर्व-स्मृतिके अभावमें भी ग्रहण कर सकता था। अन्यत्र शाकुन्तलोपाख्यानमें वह लोक लज्जावश ही शकुन्तलाको स्वीकार नहीं करता। वह स्थिति यहाँ भी है। शकुन्तलाको स्वीकार करनेमें यहाँ दो कारण थे— एक, शकुन्तलाका गर्भवती होना और दूसरा उसका भुक्तपूर्वा होना। प्रारंभमें वह उसे अनाघ्रातपुष्पवत् व अनाविद्धरत्नवत् समझ कर वह उसकी ओर आकृष्ट हुआ था। अब वैसी स्थिति नहीं थी। अन्यत्रकी तरहसे यहाँ भी वह मान लेता है कि शकुन्तला चक्रवर्तिलक्षणोपेत पुत्रको जन्म देगी तो उसे अन्तःपुरमें स्थान मिल जायगा। यद्यपि ऐसा प्रस्ताव पुरोहितका है; परन्तु इसे बिना ननु-नचके स्वीकार कर लेना दुष्यन्तकी रागी-वृत्तिके अनुकूल ही है। उसके मनमें नीति और सौन्दर्यलिप्सामें द्वन्द्व चलता रहा है। उसे अपनी जितेन्द्रियता पर भी कम विश्वास नहीं है। यह दूसरी बात है कि यहाँ यह अस्थान है। घटनापरक बाह्य-द्वन्द्वने अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त दुष्यन्तको इस स्थितिमें ला खडा किया कि वह अपनी पत्नीको छोडे या परस्त्री-लम्पट बने यह निश्चय नहीं कर सका। उधर दुष्यन्तने विदूषकको बहका दिया था इसलिए विदूषक इस सारे प्रसंगमें चुप रहा। फिर उसके सामने गान्धर्वविवाह हुआ भी नहीं था।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के नायक दुष्यन्तके चरित्रका अवलोकन करनेके बाद हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह नीतिज्ञ शासक है। उसकी रागीवृत्ति उसे तपोवनके निवृत्तिपरक वातावरणमें भी शकुन्तलासे गांधर्वविवाह करनेके लिए विवश कर देती है। उसके मनोगत रागका आगे उदात्तीकरण हो गया है। उसके व्यक्तित्वमें नीतिमान् शासन और आदर्श प्रेमीका अद्भुत समन्वय है। नीतिकी सीमाओं बाँध कर और विरहतापमें तपाकर उसने अपनी प्रेम भावनाको श्लाघाका विषय बना दिया है।

यहाँ भ्रमरकी प्रतीक कथाकी सार्थकता भी विचारणीय है। भँवर म्हारा बागोंमें आज्योजी' जैसे लोकगीतोंमें भँवर (भ्रमर) सौन्दर्य-लिप्सु प्रेमी का वाचक है। चंचल इन्द्रियोंको भ्रमर कहनेकी परम्परा तो अति प्राचीन है। सुन्दरी शकुन्तलाके मुख पर मँडरानेवाला भ्रमर स्वयं दुष्यन्त भी है। दुर्विनीत भ्रमरसे आत्मत्राण चाहनेवाली शकुन्तलाकी पुकार पर दौड कर उपस्थित होनेवाला दुष्यन्त कुशल प्रशासक है, प्रेमी नहीं। 'पौरवके शासनमें तपस्वी कन्याओंके प्रति दुर्विनय कौन प्रकट करेगा?'— दुष्यन्तके इस कथनसे संकेत मिलता है कि प्रेमी दुष्यन्त (—भ्रमर) राजा दुष्यन्त की सभामें अपराधी होकर खडा है और राजा दुष्यन्त उसे निवारित करता है दुर्विनयसे। आगे प्रेमी दुष्यन्तके संयत होनेकी कहानी है। जब प्रेमी दुष्यन्त और राजादुष्यन्त एक दूसरेमें अपना व्यक्तित्व खोदेते हैं तभी महाप्रतापी भरतके पिताके रूपमें स्वर्गतक मानवीकीर्तिको विस्तृत करता हुआ दुष्यन्त हमारे सामने आ उपस्थित होता है। श्रद्धा, वित्त और विधिसे समवेत यह दुष्यन्त श्रेयोमार्गका पथिक बन जाता है— 'भगवन् यथाशक्तिः श्रेयसि यतिष्ये।' इस प्रकार स्वच्छन्दतासे प्रारंभ होकर क्रमशः संस्कृत होते हुए जीवनका चित्रण करके कालिदास अपनी इस कृतिसे भारतके सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक कवि बन गये हैं। ◻ ◻ ◻

२३ परितः वारयति— सब ओरसे हटानेवाला

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एकाग्रता और सक्रिय ध्यान

(लेखिका— श्री माताजी, श्री अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी – २)

एकाग्रताका अर्थ है कि अपनी चेतनाके सभी बिखरे हुए सूत्रोंको एक बिंदुपर ले आया जाय। जो लोग पूर्ण एकाग्रता प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं वे जो भी कार्य अपने हाथमें लेते हैं उसमें सफल होते हैं। वे सदा ही महान् उन्नति करते हैं। और ऐसी एकाग्रता ठीक मांस–पेशियोंकी तरह विकसित की जा सकती है।... बस (इसे करनेके लिये) तुम्हारे अंदर जो संकल्पकी शक्ति हो वह ऐसी नहीं कि मोमबत्तीकी तरह (जलने पर स्वयं ही) पिघल जाय।

× × ×

हृदयमें एकाग्र होओ। उसके भीतर पैठ जाओ; भीतर गहराईमें, दूरतक चले जाओ, जितनी दूरतक जा सको उतनी दूरतक। अपनी चेतनाके सभी सूत्रोंको, जो कि चारों ओर फैले हुए हैं, एकत्र कर लो, उन्हें लपेट लो और तब डुबकी लगाकर तलमें चले जाओ।

वहां हृदयकी प्रगाढ निस्तब्धतामें एक आग जल रही है। यही तुम्हारे अंदर विद्यमान दिव्यत्व है– तुम्हारा सच्चा स्वरूप। इसकी वाणी सुनो, इसके आदेशोंका पालन करो।

एकाग्रताके अन्य केन्द्र भी हैं, जैसे कि, एक मस्तकसे ऊपर और दूसरा भौंहोंके बीचमें। इनमेंसे प्रत्येकका अपना–अपना अलग प्रभाव होता है और प्रत्येक एक विशेष फल प्रदान करता है। किंतु केंद्रीय पुरुष हृदयमें रहता है और हृदयसे ही समस्त केंद्रीय क्रियायें–रूपांतरकी समस्त क्रिया और प्रवेश तथा सिद्धिकी शक्ति प्रवाहित होती हैं।

× × ×

जब तुम ध्यान करते हो— हम 'ध्यान' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, पर इसका अर्थ मस्तिष्कमें विचारोंको ले आना नहीं होता, इसके विपरीत यह सदा ही अत्यंत अच्छा होता है कि किसी एक केन्द्रमें अधिक बढिया है कि अभीप्साके केन्द्रमें, जहां ज्योति जला करती है उस स्थानमें एकाग्र हुआ जाय। सभी शक्तियोंको एकत्र कर, वहां, सौर चक्र (हृदय) के केन्द्रमें ले आओ, यदि संभव हो तो खूब सचेतन नीरवता प्राप्त करो, मानों तुम कोई अत्यंत सूक्ष्म चीज सुनना चाहते हो, कोई ऐसी चीज जिसकी ओर पूर्ण रूपसे अवधान लगानेकी, संपूर्ण एकाग्रचित्त और सर्वांगपूर्ण निश्चल–नीरव होनेकी आवश्यकता है। जरा भीहिलो–डोलो मत। और तब कुछ मत सोचो, अडिग रहो, किंतु अपनेको इस प्रकार खोले रखो कि जो कुछ ग्रहण संभव हो वह ग्रहण कर लिया जाय। साथ ही इस बातका भी ख्याल रखो कि जब कोई चीज घटित हो रही हो उस समय यह जाननेकी चेष्टा न रहे कि क्या घटित हो रहा है। क्योंकि यदि तुम समझना चाहो या यहां तक कि सक्रिय रूपसे निरीक्षण ही करना चाहो तो वह मस्तिष्कमें एक प्रकारकी क्रिया–शीलता बनाये रखेगी और वह वस्तु ग्रहण शीलताकी पूर्णतामें बाधक होगी। अत एव निश्चल–नीरव बने रहो— यथा–संभव पूर्ण निश्चल–नीरव, सचेतन एकाग्रताका भाव अपनाओ और फिर अचल–अटल बने रहो।

यदि तुम ऐसा करनेमें सफल हो जाओ तो जब सब कुछ पूरा हो जायगा, और तुम अपने ध्यानसे बाहर निकलोगे तो कुछ समय बाद–साधारणतया यह तुरत घटित नहीं होता– तुम्हारी सत्तामें कोई चीज ऊपर निकल आयेगी, तुम्हारी चेतनामें कोई नयी चीज उदित होगी। एक नयी समझ, चीजोंका मूल्य समझनेकी एक नयी शक्ति, जीवनके प्रति एक नया मनोभाव, थोडेमें कहें तो, जीवन–संबंधी एक नया भाव उत्पन्न हो जायगा। हो सकता है कि यह क्षणिक हो, पर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

फिर भी यह कहा जा सकता है कि तुम्हारे अंदर कोई चीज ज्ञान–प्राप्ति और रूपांतरके पथ पर एक पग आगे बढ गयी है। यह वस्तु एक प्रकारकी ज्ञानकी झलक हो सकती है, एक ऐसी समझ हो सकती है जो अधिक यथार्थ सत्य हो या प्रगति प्रदान करे या यहांतक कि चेतनाको विकसित करे, सत्ताकी गति–विधियों और क्रियायों पर अत्यधिक प्रभुत्व प्रदान करे।

और ये सब परिणाम कभी तुरत–फुरत प्राप्त नहीं हो जाते। यदि तुम उन्हें तुरंत पानेकी कोशिश करोगे तो, जैसा कि मैंने अभी तुमसे कहा है, इसका अर्थ होगा कि तुम अपनेको एक क्रियाशील स्थितिमें बनाये रखोगे जो कि सच्ची ग्रहणशीलताके बिलकुल विपरीत है। तुम्हें जितना संभव हो सके उतना निष्पक्ष, अचल–अटल और निष्क्रिय बने रहना चाहिए और अंतरमें एक नीरव अभीप्सा बनाए रखनी चाहिए जो कि एक तीव्र स्पंदनके साथ प्रतीक्षा करती है, पर जिसका कोई आकार नहीं होता और जो– यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है— समझनेकी चेष्टा नहीं करती।

स्वभावतया आरंभमें तुम सरलता या शीघ्रतासे इस अवस्थाको नहीं प्राप्त करते। तुम्हें धीरे–धीरे अपने मनको शांत–स्थिर करना पडता है, अपनी चेतनाके सूत्रोंको एकत्र करना और एकाग्र करना पडता है। इस प्रकार अपनेको तैयार करनेमें ही तुम तीन–चौथाई भाग समय खो देते हो। किंतु थोडा अभ्यास हो जानेपर तुम इस अवस्थाको चाहते ही कुछ क्षणोंमें प्राप्त कर सकते हो।

निश्चय ही, इससे ऊंची अवस्थायें भी हैं जो पूर्णताके और भी निकट हैं, परंतु कुछ दिन बाद वे भी प्राप्त होती हैं। यदि यह सचेतन नीरवता प्राप्त हो गयी है तो समझ लो कि तुमने अपने ध्यानका पूरा लाभ पा लिया है।

× × ×

चाहे तुम ध्यानके लिये आसन लगाकर बैठ जाओ या इधर–उधर घूमो–फिरो और नाना चीजों तथा कार्योंमें लगे रहो, तुमसे बस इसी बातकी अपेक्षा की जाती है कि तुम चेतना बनाये रखो, यही एकमात्र आवश्यक बात है, अर्थात् भगवान्‌के विषयमें निरंतर सचेतन बने रहो।

× × ×

आध्यात्मिक प्रगतिका यह कोई प्रमाण नहीं कि तुमने ध्यानमें कितने घंटे बिताये। वास्तवमें तुम्हारी प्रगतिका प्रमाण है कि अब तुम्हें ध्यान करनेका कोई प्रयास नहीं करना पडता।

इसका मतलब यह है कि अपनी आंतरिक मशीनको निश्चल–नीरव बनानेके लिये जिस चीजको तुम चाहते हो उस पर अपने विचारको केंद्रित करनेमें समर्थ होनेके लिये तुम जब उतावले नहीं होते, कोई महान् प्रयास नहीं करते, बल्कि इसे एकदम सामान्य ढंगसे, स्वाभाविक भावसे, बिना किसी प्रयत्नके सहज ढंगसे करते हो, और तुम चाहे जिस किसी कारणसे ध्यान करते हो, जो कुछ तुम देखना या जानना या पहचानना चाहते हो वह तुम्हारी चेतनामें बना रहता है और बाकी सब कुछ मानों जादूकी तरह विलीन हो जाता है, तुम्हारे अंदर सब कुछ स्थिर हो जाता है, तुम्हारी सत्ता नीरव बन जाती है, तुम्हारी स्नायुएं पूर्णतः शांत हो जाती हैं, तुम्हारी चेतना पूरी तरह एकाग्र हो जाती है– स्वाभाविक रूपसे, स्वयं अपने–आप और तुम तीव्र आनन्दके साथ और भी अधिक प्रगाढ ध्यानावस्थामें प्रवेश कर जाते हो।

यही इस बातका चिह्न है कि तुमने सफलता प्राप्त कर ली है, अन्यथा नहीं।

एक ऐसा समय आता है जब तुम्हें ध्यान बंद करनेका प्रयास करना पडता है; उस समय तुम्हारे लिये ध्यान बंद करना कठिन हो जाता है, भगवान्‌का चिंतन बंद करना कठिन हो जाता है, साधारण चेतनाके स्तरपर नीचे उतर आना कठिन हो जाता है।

मैं कितना चाहती हूं कि यह बात सबोंके लिये सच्ची हो जाती!

तुम बहुत जोर–शोरके साथ काममें लग सकते हो, उदाहरणार्थ 'बास्केट बाल' खेल सकते हो, जिसमें बहुत अधिक क्रिया करनेकी आवश्यकता पडती है और फिर भी तुम भगवान्‌के ऊपर अपना आंतरिक ध्यान और एकाग्रताका भाव नहीं खोओगे। और जब तुम इस स्थितिमें पहुंच जाओगे तब तुम देखोगे कि जो कुछ भी तुम करते हो वह अब एक दूसरे प्रकारकी वस्तु है, तुम केवल पहलेसे अच्छा ही नहीं करते बल्कि उसे एकदम अप्रत्याशित शक्तिके साथ करते हो, और साथ ही तुम अपनी चेतनाको इतना ऊंचा और पवित्र बनाये रखते हो कि अब उसे कोई भी चीज

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्पर्श नहीं कर सकती। और याद रखो कि वह अवस्था इतनी दूरतक जा सकती है कि यदि तुम्हारे साथ कोई दुर्घटना भी घटे तो उससे तुम्हारी कोई क्षति नहीं पहुंचेगी। अवश्य ही यह परमोच्च अवस्था है, पर ऐसी परमोच्च अवस्था जिसकी हम अभीप्सा कर सकते हैं।

तुम सर्वसामान्य लोगोंकी तरह यह विश्वास करनेकी भूल मत करो कि तुम्हें एक ऐसे एकांत नीरव कोनेमें बैठ जाना चाहिए जिधर कोई नहीं जाता, जहां तुम अत्यंत उच्च स्थितिमें एकदम अचल-अटल रहते हो जिसमें कि तुम ध्यान कर सको— यह बात सत्य नहीं है। आवश्यकता इस बातकी है कि तुम्हें सभी परिस्थितियोंमें ध्यान करनेमें समर्थ होना चाहिए, और मैं कहती हूं कि ध्यान करनेमें समर्थ होना चाहिए, अपने मस्तिष्कको रिक्त करनेमें ही नहीं बल्कि भगवान्के ध्यानमें अपनेको एकाग्र कर देना चाहिए; और तुम यदि अपने अंदर ध्यानकी यदि स्थिति बनाये रखो तो जो कुछ तुम करोगे उसकी जाति ही बदल जायगी- उसका बाहरी रूप नहीं बदलेगा, क्योंकि ऊपरसे देखनेमें तो वह वही चीज रहेगी, पर उसका विशिष्ट गुण बदल जायगा। जीवनका स्वरूप बदल जायगा और तुम अनुभव करोगे कि जो कुछ तुम थे उससे कुछ भिन्न व्यक्ति हो गये हो, तुम अपने साथ एक प्रकारकी शांति, निश्चिति, आंतरिक स्थिरता, अपरिवर्तनीय शक्ति, एक ऐसी चीज अनुभव करोगे जो सदा अडिग रहती है।

ऐसे बहुतसे लोग होते हैं जो घंटों ध्यान किया करते हैं, कुछ तो प्रायः सब समय ही करते रहते हैं। किंतु संयोगवश कोई मनुष्य यदि उन्हें पुकार दे या शोर-गुलसे उनके ध्यानमें बाधा पहुंचे तो वे क्रोधसे लाल-पीले हो जाते हैं, चिल्लाते और सबोंको गालियां देते हैं। ध्यानकी कोशिश किये बिना यदि वे साधारण मनुष्य बने रहते तो उस समय वे जो कुछ होते उससे अत्यधिक गंदे बन जाते हैं। इसका कारण, जैसा कि मेरा कहना है, यह है कि वे अपनी गंभीरतर चेतनाके साथ अपने बाह्य जीवनको जोडनेकी परवाह नहीं करते; वे अपने-आपको दो भागोंमें काट देते हैं, एक भाग तो भीतर होता है जो प्रगति करता रहता है और दूसरा भाग बाहर होता है जो और भी बुरा बनता जाता है, क्योंकि वह छोड दिया जाता है और उसकी एकदम कोई परवाह नहीं की जाती।

\+ \+ \+

साधारणतया लोग सक्रिय ध्यान नहीं करते। जब वे ध्यानमें प्रवेश करते हैं— अथवा कमसे कम, जिसे वे ध्यान कहते हैं उसमें प्रवेश करते हैं— तो वे एक प्रकारकी अचल अवस्थामें चले जाते हैं जिसमें कोई भी चीज हरकत नहीं करती। जब वे उसमेंसे बाहर निकलते हैं तब वे ठीक वैसे ही रहते हैं जैसे कि प्रवेश करनेके समय थे, उनकी सत्ता या चेतनामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ होता।... यही कारण है कि श्री अरविंद सक्रिय ध्यानकी बात करते हैं जो प्रचलित ध्यानके ठीक उलटा है। यह रूपांतर लानेवाला ध्यान है।

× × ×

सबसे महत्त्वपूर्ण बात है यह जानना कि तुम क्यों ध्यान करते हो। बस, यही चीज ध्यानको विशेषता प्रदान करती है और यह निर्धारित करती है कि ध्यान किस श्रेणीका है।

तुम दिव्य शक्तिकी ओर अपनेको खोलनेके लिये ध्यान कर सकते हो, तुम अपनी सामान्य चेतनाका त्याग करनेके लिये ध्यान कर सकते हो, तुम अपनी सत्ताकी गहराईमें पैठनेके लिये ध्यान कर सकते हो। तुम अनेकों प्रकारके कामके लिये ध्यान कर सकते हो। तुम शांति, स्थिरता और नीरवतामें प्रवेशके लिये ध्यान कर सकते हो; साधारण तौरपर लोग यही करते हैं, और बहुत अधिक सफलता पाये बिना ही ऐसा करते हैं। किंतु तुम रूपांतर लानेवाली शक्ति ग्रहण करनेके लिये, रूपांतरित करने योग्य स्थलोंको खोजनेके लिये अपनी प्रगतिकी धाराका पता लगानेके लिये भी ध्यान कर सकते हो, उदाहरणार्थ जब कि तुम्हें किसी कठिनाईको पार करना है, कोई समाधान खोज निकालना है, जब तुम किसी विशेष कार्यमें सहायता पाना चाहते हो आदि-आदि।

... प्रत्येक मनुष्यका ध्यान करनेका अपना अलग तरीका है। किंतु तुम यदि चाहते हो कि तुम्हारा ध्यान सक्रिय हो तो तुम्हारे अंदर प्रगति करनेके लिये अभीप्सा अवश्य होनी चाहिए और इसी अभीप्साको मदद पहुंचाने और इसे सिद्ध करनेके लिये ध्यान करना चाहिए। तब ध्यान सक्रिय बन जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अमिय--कलश

[गीता पर मार्मिक विवेचन]

(लेखक— श्री वेदव्रत शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

मानव शरीर--क्षेत्रका वर्णन

मानवशरीर ब्रह्माण्डका नक्शा है। इसी सूत्रकी व्याख्या को पढकर पिण्ड और ब्रह्माण्डको भी समझें। हाँ, तो यह है अपना क्षेत्र। साम्यावस्थावाली कारण–प्रकृति प्रभुकी इंगितसे महत्, अहङ्कार, बुद्धि, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पांच कर्म इन्द्रियाँ, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धैर्य, चैतन्यता आदि संक्षेपसे शरीर–क्षेत्रमें हैं। इस क्षेत्रका उत्तरदायी किसान जीवात्मा है। इसीको आगे चलकर आप अश्वत्थके वर्णनमें विस्तृतरूपसे पढेंगे।

ब्रह्माण्ड--क्षेत्र रामचरित्र मानससे

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागममने,
षट्–कन्ध शाखा पंचवीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल विधि कटुमधुर बेलि अकेली जेहि आश्रित रहे,
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे॥ (उत्तरकांड)

यह जिसे हम क्षेत्र कह रहे थे, वह प्रकृति या अव्यक्त या प्रधान; महत्, अहंकार पांच तन्मात्रायें (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द); ये आठ प्रकृतियां और सोलह विकार; पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांचकर्मेन्द्रियाँ और मन ग्यारह; पांच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) पुरुष एक। (८ + ११ + ५ + १ = २५) = चारों वेद इसके त्वचायें हैं। संक्षेपमें ये आठ प्रकृतियाँ, सोलह विकार और एक पुरुष कुल पच्चीस हैं। इसके सुख दुःख मीठे और कडुवे फल हैं। इस वृक्ष या क्षेत्रका क्षेत्रज्ञ या वृक्षज्ञ ओङ्कार है। इस क्षेत्रका ज्ञान ही विज्ञान है।

विशेष--विचार

आत्मा यानी जीवात्माके विषयमें मन और बुद्धि विशेष महत्व रखते हैं। मन और बुद्धि केवल विचारके साधन या इन्द्रियाँ हैं। मन और बुद्धि प्राण–शक्तिके आधीन होकर ही काम कर सकते हैं। प्राणों द्वारा शरीर चेतन अर्थात् हलचल या गतिका सञ्चार होता है। कभी कभी लोग चेतना शब्दका अर्थ चैतन्य करते हैं। परन्तु चेतनाका अभिप्राय शरीरमें प्राणों द्वारा होनेवाली हलचल या जीवितावस्थाका व्यवहार या गति यानी स्पन्दन है। जिस शक्ति द्वारा प्राण तथा अन्य पदार्थोंमें भी हलचल या व्यवहार उत्पन्न हुआ करता है उसे चित्–शक्ति कहते हैं। इसी चित् शब्दको जब भाववाचक संज्ञा बनाते हैं तो उसे चैतन्य कहते हैं। यह चित्–शक्ति अहङ्कारमें आकर मेरा, तेरा यानी अस्मद् और युष्मद्का संसार बनाती है। मनका काम है संकल्प–विकल्प करना, बुद्धिका काम सार–असार, हानि-लाभ, उचित–अनुचित, आदि विषयोंको निश्चय करके भावको स्थायीत्व प्रदान करना है। अतः मेरा–तेरा इस भेद–भावको उत्पन्न करनेवाले अहङ्कारसे बुद्धि भिन्न है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि द्वन्द्व मनके गुण हैं; परन्तु नैय्यायिक इन्हें आत्माके गुण मानते हैं। इस प्रकार जिन मूलतत्त्वोंसे पंचभूत उत्पन्न हुए हैं उन तत्त्वोंका भी समावेश शरीरमें है। जिस शक्तिके द्वारा देहमें सब तत्त्व स्थिर रहते हैं वह भी इन सबसे न्यारी है। उसे धृति कहते हैं। इन सबके समुच्चयको सविकार शरीर अथवा क्षेत्र कहते हैं।

इस क्षेत्रका स्वामी यदि चेतनाको मानते हो तो स्वप्नमें सभी शरीरके व्यापारोंके होते हुए भी 'मैं' का ज्ञान नहीं रहता। अहङ्कार तो 'मैं' भावको बताकर चुप रहता है। 'मैं' क्या है? कौन है? क्या मन, बुद्धि, चेतना जड देहादि तत्त्वोंके संघात भी समुच्चयको 'मैं' कहते हैं? परन्तु महात्मा गांधीजी अपनी दैनिक प्रार्थनामें कहा करते थे कि मैं भूतों या पांचतत्त्वोंका समुच्चय नहीं हूँ 'न च भूत–संघ'। परन्तु शरीरके व्यापारमें कुछ न कुछ उद्देश्य निहित रहता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उनमें करना, न करना, उलटा करना आदि व्यापार भी पाये जाते हैं। तो सिद्ध हुआ कि क्षेत्ररूपी कारखानेमें काम करनेवाले मन, बुद्धि आदि सब नौकरोंको इस विशिष्ट दिशा या लक्ष्य पर चलानेवाला कौन है ? अगर कहें कि संघात-जनित एक शक्ति है तो यह नहीं हो सकता क्योंकि पदार्थोंमें अलग अलग जो शक्ति नहीं है तो उनके संघातसे भी वह शक्ति नहीं पैदा हो सकती है। अतः शरीरक्षेत्र है और जीवात्मा ज्ञाता है।

ज्ञानका निरूपण

सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक गीता-कारने ज्ञानका निरूपण किया है। मनमें कपट न रखना, दम्भरहित होना, अहिंसक होना, शान्तिपूर्वक रहना, विनम्रताका पालन करना, इत्यादि आचरणसे मन वशमें रहता है। इन्द्रियोंके विषयोंको वासनाओंकी तृप्तिके लिये न चाहना, अहङ्कार-रहित होना तथा शारीरिक कष्टोंको सहन करना आदि मन-पवित्र करनेके साधन हैं। पारिवारिक जीवनको ममतारहित होकर बिताना, इष्ट तथा अनिष्ट भावोंमें समान-चित्त रहना, भक्तिके साधन है। एकान्तमें बैठकर निर्विषय मनसे ईश्वरका चिन्तन करना ज्ञानके साधन हैं, ज्ञान-विज्ञानका चिन्तन करना भी आत्म-ज्ञानका साधन है।

परब्रह्मका स्वरूप

अब कृष्ण भगवान् द्वारा अर्जुनको परमात्म-तत्त्वका उपदेश बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक किया गया है। परमात्मा ही अन्तिम ज्ञेय तत्त्व है। जिसको जानकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। ईश्वर अनादि है; न वह सत् और न वह असत् है। अर्थात् ईश्वरका न कोई कारण है, और न वह कार्य ही है। ईश्वर सर्व-शक्ति सम्पन्न है। सब पदार्थ ईश्वरमें ही है। वह अनन्त शिर तथा अनन्त चरणवाला है। इसका निरूपण ईश्वरके विराट्-रूपमें किया गया है। ईश्वरके इन्द्रियाँ नहीं हैं परन्तु इन्द्रियोंकी सभी शक्तियाँ ईश्वरमें हैं। वह संसारमें फंसता नहीं है। निर्गुण होते हुए भी वह सभी गुणोंको धारण करता है। जड-चेतन सभी पदार्थोंके भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, इधर-उधर वह विद्यमान है। सभी पदार्थोंमें एक-रस रहता है। वह पदार्थोंके कटने, जलने, नष्ट होनेसे कटता, जलता, नष्ट नहीं होता है। क्योंकि परमात्मतत्त्व सूक्ष्मतम है। अतः वह इन्द्रिय-गोचर नहीं हो सकता। वह सूर्य-चन्द्र तथा सभी ग्रहोंको प्रकाश-प्रदान करता है। अन्धकारसे सर्वथा परे है। उसीको जानना ज्ञान है और ईश्वर ही ज्ञेय है। इस प्रकार कृष्णने अर्जुनको ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता, तथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संक्षेपमें बोध करा दिया। ईश्वरका भक्त इस ज्ञानको पाकर ब्रह्मवत् हो जाता है।

प्रकृति और जीवात्मामें भेद

१९ से २६ वें श्लोक तक प्रकृति और पुरुषका भेद बताया गया है। प्रकृति और जीव दोनों अनादि हैं। अगर पुरुष शब्दसे जीवात्मा और परमात्मा दोनोंका ग्रहण होता है तो ईश्वर, जीव, प्रकृतिसे तीनों अनादि हैं। संक्षेप या सूत्र-रूपमें वर्णन करनेकी यही शैली है कि यदि एक शब्दसे दो अर्थ प्रकट हो सकता है तो दो शब्दोंका प्रयोग नहीं करते, क्योंकि वैय्यकरण तथा सूत्रकार लोग अर्धमात्राकी कमी होनेपर भी पुत्रोत्पत्तिका उत्सव मानते हैं। परन्तु यदि यह विचार लोगोंको अमान्य हो तो प्रकरणानुसार जीव और प्रकृति दोनों ही अनादि है। इसका आगे विवेचन किया जायगा। जगत्का कार्य तथा कारण प्रकृति ही है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृति जगत्का उपादान-कारण है। आठ विकार अर्थात् प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार और पांच तन्मात्रायें और इनके गुण यानी आकाशका गुण शब्द, अग्निका रूप, वायुका स्पर्श, जलका रस और पृथ्वीका गन्ध आदि गुण भी अनादि हैं परन्तु ये सब प्रकृतिके अन्तर्गत ही हैं। जीवात्मा सुख दुःखका भोगनेवाला है; क्योंकि जो कर्ता होता है वही भोक्ता भी होता है।

परमेश्वर जीवात्मामें व्यापक होनेके कारण इसके कर्मोंका द्रष्टा यानी साक्षी तथा शुभाशुभ कर्मोंका फलदाता है। ईश्वर ही संसारका भरण-पोषण करनेवाला है। अपने आनन्द-स्वरूपका भोक्ता भी है। इस शरीरमें साक्षी रूपमें रहता हुआ परम-पुरुष परमेश्वर कहलाता है। इस प्रकार प्रकृति तथा इसके गुणोंमें रहता हुआ भी जीव इस ज्ञानसे फिर नहीं पैदा होता। अर्थात् परमधामको प्राप्त करता है।

कुछ लोग परमतत्वको विवेक तथा ध्यानसे देखते हैं और कुछ लोग अपनेमें मन-संयमके द्वारा साक्षात्कार करते हैं। अन्य लोग सांख्य-योगसे या कर्म-योगसे प्राप्त करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो सत्संगति या सन्तोंके उपदेशका आचरण करते हुए ईश्वरकी उपासना करके जन्मजन्मा-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

न्तरमें ईश-प्राप्ति कर लेते हैं अर्थात् पूर्ण-ज्ञानी न होनेपर भी अपने शुद्धाचरणसे ईश्वर-प्राप्तिके पात्र बन जाते हैं। जो कुछ जड-चेतन संसार है वही क्षेत्र है यानी प्रकृति है। प्रकृति पुरुषके संयोगसे ही जानी जा सकती है। प्रकृति स्वतंत्र कारण नहीं; उसमें प्रकट होनेकी शक्ति ईशके व्यापकत्वसे उत्पन्न होती है।

२७ से ३० वें श्लोक तक वास्तविक ज्ञानियोंके गुणोंका वर्णन है। ज्ञानी-पुरुष परमात्माको सबमें एक रस व्यापक समझता है। जगत् तथा शरीरके नष्ट होनेपर भी परमात्मा तथा जीव नष्ट नहीं होते। इस प्रकार जो ईश्वर और जीवको समझता है वही ज्ञानी है। आत्माका कर्म करना स्वभाव है। कर्म ही जीवकी सत्ताका द्योतक है। अगर कर्म न दिखाई दे तो आत्माका अनुभव नहीं किया जा सकता। जब जीव अनासक्ति भावसे कर्म करता है तो उसमें कर्तापनका अहंकार भी नहीं उत्पन्न होता। जब ज्ञानी अलग अलग पदार्थोंमें एक ही ईश्वरको प्रधानतया अनुभव करता है तो वह अनेकतामें एकताका ज्ञान करता हुआ परमात्माको पा जाता है; परमात्मा ही नहीं हो जाता। क्योंकि 'ब्रह्म सम्पद्यते' का अर्थ परमात्माको प्राप्त करना ही है, न कि ब्रह्म होना। कहा भी है कि ब्रह्मवित् ब्रह्मवत् हो जाता है।

अन्तमें गीताकार पुनः ईशका समर्थन करते हैं क्योंकि अन्तमें कही हुई बात अपना विशेष प्रभाव डालती है। ईशका प्रतिपादन प्रधान है अतः समाप्तिमें भी ईश्वरकी ही विवेचना है। परमात्मा प्राणियोंकी देहमें रहता हुआ भी अनादि, अव्यय, निर्गुण होनेके कारण पाप-पुण्यमें नहीं फंसता। जैसे सूक्ष्म आकाश सर्वत्र रहता हुआ भी किसी तत्त्वसे प्रभावित नहीं होता, उसी तरह ईश्वर भी किसी भी गुणसे प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको ज्ञानके द्वारा विचार कर लेनेपर जीव, प्रकृति और मोक्षको जो जाने वे सर्व श्रेष्ठ हैं परम हैं।

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

१ गुणत्रय विभागयोग

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि पुनः ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान कहूँगा जिसको समझकर ज्ञानी लोग परम-सिद्धिको प्राप्त होते हैं। इस ज्ञानको प्राप्त करके मेरी ही तरह उत्तम समान धर्मका आचरण करके ज्ञानीलोग सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न नहीं होते और प्रलयमें भी दुःखी नहीं होते। कृष्णने अर्जुनको बताया कि प्रकृति ईश्वरकी रचनाका उपादान-कारण है। प्रकृति भी ब्रह्म है क्योंकि प्रकृति विस्तृत तथा अतिवृद्धियुक्त है। इसी उपादान कारण प्रकृतिसे सभी भूतोंकी उत्पत्ति होती है। संसारमें जितनी योनियां हैं उनमें ईश्वर ही जीवोंको प्रवेश कराता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण प्राकृतिक गुण हैं। इन्हीं गुणोंके प्रभावसे ही जीव विभिन्न योनियोंको प्राप्त होते हैं।

वेदों तथा उपनिषदोंमें गुण-त्रय-विभाग

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ १ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ २ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ ३ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया
शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥ ४ ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

प्रथम श्लोकमें प्रकृतिको अजा (बकरी) का रूपक देकर समझाया गया है। प्रकृति अनादि है इसलिये इसे अजा कहते हैं। यह लाल, सफेद और काले रंगोंकी है। यह अपने ही रूप रंगवाली अनेक प्रजाओंका सर्जन करती है। अजा ब्रह्माण्ड और शरीरकी उत्पादिका है इस प्रकार 'अज' दो है। प्रथम 'अज' परमात्मा और दूसरा 'अज' जीवात्मा है। प्रथम अज परमात्मा ब्रह्माण्ड तथा शरीर दोनोंका ईश है परन्तु जीवात्मा शरीरका ही ईश है। यह जीवात्मा कर्ता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

और भोक्ता है। परन्तु परमात्मा तो साक्षीमात्र है। इसमें सतोगुणको सफेद, रजोगुणको लाल और तमोगुणको कृष्ण बताया गया है।

दूसरे श्लोकमें प्रकृतिको वृक्षका रूपक देकर समझाया गया है। इस वृक्षपर सुन्दर पंखोंवाले सदा साथ रहनेवाले एक दूसरेके मित्र दो पक्षी हैं। दोनोंमेंसे एक पक्षी पिप्पलके स्वादुफलोंको मजेमें खाता है, दूसरा न खाता हुआ साक्षी मात्र है। जीवात्मा तथा परमात्मा दो पक्षी हैं, प्रकृति अथवा शरीर वृक्ष है। जीवात्मा कर्म-फलका भोग करता है, परमात्मा साक्षीरूप रहता है।

तीसरे श्लोकमें प्रकृतिको माया तथा परमात्माको मायावी बतलाया गया है। जीवात्मा मायाकी अद्भुत रचनामें फंस जाता है। इसीको कबीरने ठगिन कहा है। यह तीन लरकी (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) रस्सी लिये इधर उधर सबको ठगती है। परमात्माकी अनोखी शक्ति ही माया है; शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं। चौथे श्लोकमें भी संसारको वृक्षका रूपक देकर समझाया गया है। इसका भी भाव दूसरे श्लोककी ही तरह है केवल विशेषता इतनी ही है कि जीवात्मा परमात्माकी महिमाका जब मनन करता है तो वीतशोक हो जाता है।

सतोगुण निर्मल होनेसे प्रकाशक और स्वास्थ्य-प्रद होता है। यह ज्ञानको उत्पन्न करता है और सुख-प्रद होता है। इन गुणोंसे जीवको बांध लेता है। रजोगुण, इच्छा, रूपवाला होता है। लोभ और स्वार्थ उत्पन्न करता है। यह जीवको कर्मबन्धनमें बांधता है। तमोगुण अज्ञानका जनक है, यह सब जीवको मोह लेता है। आलस्यमें, नींदमें और प्रमादमें जीवको फंसा देता है। संक्षेपमें सतोगुण सुख, रजोगुण कर्म और तमोगुण अज्ञानमें प्रवृत्त करता है।

रजोगुण तथा तमोगुणको दबाकर सतोगुण बढता है, इसी प्रकार रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुणको दबाकर बढता है और तमोगुण, रजोगुण तथा सतोगुणको दबाकर बढता है।

इन गुणोंकी पहिचान

आठ चक्र तथा नवद्वारवाली देहमें (अयोध्यामें) जब प्रकाश यानी ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, विद्या बढती है तब सतोगुणको समझना चाहिए। दया, प्रेम, सद्भावना आदि सद्गुण प्रकट होते हैं। जब मनमें कर्म करनेकी इच्छा, अशान्ति, लोभ, लालसा, लगन गुण प्रकट हों, तब रजोगुण समझें, तमोगुणके उदय होनेपर मोह, अज्ञान, आलस्य, प्रमाद, क्रोध आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

इन गुणोंसे युक्त जीव किस गतिको प्राप्त करता है?

जब जीवात्मा सतोगुणसे प्रभावित होकर मरता है तो उत्तम गति प्राप्त करता है। उसका जन्म सतोगुणी परिवारमें होता है। और जब रजोगुणसे प्रभावित होकर देह-त्याग करता है तो उद्योगी परिवारमें जन्म-ग्रहण करता है। और तमोगुणी आत्मायें मूढ योनियोंमें पैदा होती हैं। मूढ-योनिका अर्थ असुर, पापी योनि भी है। परन्तु कुछ टीकाकार मूढ-योनिका अर्थ पशु योनि करते हैं। यदि यह कहें कि मूढ-योनिका अर्थ पशु-योनि नहीं है तो मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंका विरोध होता है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि सतोगुणी ऊंचे चढते हैं, रजोगुणी बीचमें ही रह जाते हैं परन्तु तमोगुणी घृणित तथा कुत्सित नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

गुण कर्ता हैं या जीवात्मा? उन्नीसवें श्लोकमें यह पेचीदी बात है। मैं इसका अर्थ यह समझता हूँ कि जब सतोगुणके उत्कर्षसे जीव करना, न करना, उलटा करना, अपना गुण समझता है और अपनेको इन गुणोंका विजेता समझता है तो विवेकसे यत्न करना मात्र अपना स्वाभाविक गुण समझ कर परोपकार आदि कार्योंको ईश्वरादेश समझता हुआ अपनेको कर्तापनके अहङ्कारसे मुक्त समझता है। कर्म करना, ईशादेशका आचरण करना, हमारा गुण या धर्म है इसलिये हम निस्पृह कर्मके कर्ता होते हैं। परन्तु यदि तीनों गुणोंमें कर्तापनका आरोप करते हैं तो यह बात समझमें नहीं आती; क्योंकि जीवात्मा चेतन है और गुण-जड हैं, जडमें बिना चेतनताके कर्तापन कैसे माना जा सकता है? यह बात दूसरी है कि अज्ञानताके कारण जीवात्मा इनके आकर्षणमें आकर उचित-अनुचित कर बैठे। कर्मोंके फलोंका भोक्ता जीव है न कि गुण हैं। अतः इस श्लोक पर न्यायसंगत विचार करना चाहिए। न्यायदर्शनकी उक्तियाँ विचारणीय हैं। इस प्रकार सोचनेवाला कृष्णकी तरह कर्म-योगका सुन्दर पथिक बनता है। इन तीनोंके प्रभावोंसे अपनेको सुरक्षित रखता हुआ व्यक्ति दैहिक दुःखोंसे मुक्त होकर अमर हो जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हम गुणातीत कैसे बनें ?

२२वें श्लोकसे २५वें श्लोक तक गुणातीतका लक्षण बताया है। गुणातीतका अर्थ तीनों गुणोंसे रहित नहीं होता अपितु इसका अर्थ है सतोगुणका परम-उत्कर्ष। जैसे संखिया-विष-को शोध कर अमृत यानी औषधि बनाली जाती है उसी तरह इन गुणोंको ज्ञानाग्निमें शोध कर लोक-संग्रहोपयोगी बना लेते हैं। यथा अभिमानको स्वाभिमानमें बदल देते हैं, क्रोधको मन्युमें, रागको देशानुरागमें, प्रेमको देशप्रेममें, प्राणि-प्रेममें, भक्तिमें, तीनों ऐषणाओंको ईश्वरमें केन्द्रित करनेमें, इतिभावनाको विरति या सुरतिमें बदलना ही गुणातीत होना है।

सम-भाव ही यानी स्वभावमें ही स्थिर रहना सतोगुणका लक्षण है। जैसे दीपकी लौ हवाके प्रभावसे रहित होकर स्वाभाविक प्रकाश प्रदान करती है। यह भी निश्चित है कि दीपक हवाके नितान्त अभावसे जल भी नहीं सकता यानी दीपकका जीवन भी हवा ही है। परन्तु यही हवा कम वेशी होकर दीपकके प्रकाशमें कम्पन पैदा करके उसकी स्वाभाविकताको नष्ट कर देता है। परन्तु दीपको यदि शीशेसे सुरक्षित कर दिया तो उसका प्रकाश अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहता हुआ स्वच्छ भी हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानसे सुरक्षित जीव अपने स्वभावमें स्थिर रहता हुआ अपने गुणोंको प्रदीप्त करता है। और इन तीनोंसे प्रभावित न होकर इनको नियंत्रित रखता है। जैसे नशाकी सूक्ष्मता बुद्धिमें विकार नहीं पैदा करती अपितु उसमें तीव्रता लाती है परन्तु वही नशा सूक्ष्मतासे बढकर बुद्धिको विक्षिप्त भी कर देती है। इस तत्त्वका ज्ञान प्रयोग कर्ताको होना चाहिए न कि शराबको। वासनाकी भावना ही दुःखका कारण है इस भावनाको तीनों गुणोंसे निकाल दो तो सभी गुण अच्छे हैं। एक शिशु षोडशी बालिकाकी गोदमें जाता है उसके सभी अङ्गोंको छूता है, कोई बुरा नहीं मानता, परन्तु यदि कोई बडा ऐसा करे तो निकृष्ट या दण्डनीय समझा जाता है। क्यों; दोनोंमें वासनाका ही तो अन्तर है। इसे आप और गहराईतक सोचें तो यह वासना बुराईयोंकी जड है। इसीको योग-शास्त्रमें 'आशय' कहा गया है।

मनसे वासनाकी धूल ज्ञानकी साफीसे साफ कर दें तो मन ही दिव्य दृष्टिमें बदल जाता है फिर सभी पदार्थ सामने यथार्थ रूपमें उपस्थित हो जाते हैं। संसारमें जो कार्य विद्युत्से चलता है वही कार्य शरीरमें विशुद्ध मनसे होता है। यही दिव्य-दृष्टि कृष्णको प्राप्त थी। इसी दिव्य-दृष्टिको कृष्णने अर्जुन तथा धृतराष्ट्रादिको दिया था। यह दिव्य-दृष्टि सबके पास होती है परन्तु वासनासे तिरोहित रहती है। उपदेश तथा गुरुओंकी दयासे और समाधि द्वारा वासना शुद्ध होकर सुरति बन जाती है; रति ही सुरति हो जाती। मन सूर्य तथा चन्द्रसे भी अधिक प्रकाशमान हो जाता है क्योंकि मार्ग साफ होकर प्रभु-ज्योति आने लगती है। लोग समझते हैं कि दिव्य-दृष्टि कृष्णकी मुट्ठीमें थी जब जिसे चाहते थे उसे दे देते थे। हमारे विचारसे उस समयका साधारण व्यक्ति भी उत्तम साधक होता था केवल रहस्योद्घाटन-मात्र रहता था, साधक स्वयं रहस्यके खुलनेपर आत्म-पथ-पर चलना शुरू कर देता था। उस समय साधारण व्यक्ति भी प्रति-दिन समाधि लगाया करते थे।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥
अथर्ववेद. १०।२।२६

भावार्थ— मस्तिष्कका काम तर्क और हृदयका काम श्रद्धा, विश्वास और प्रेम है। जब मस्तिष्क और हृदय मिलते रहते हैं तब तर्क और विश्वास दोनोंकी उपयोगिता हुआ करती है। श्रद्धा तर्कके बाद अथवा तर्कसे ऊपरकी वस्तु है। श्रद्धा-नवनीतको प्राप्त करनेके लिये तर्ककी मथनी आवश्यक है। तर्कसे मनुष्यको सत्यासत्यका निर्णय करके श्रद्धासे उसका आस्वादन करना चाहिए। तभी उसकी उपयोगिता है। हाँ, तर्क कुतर्क न होने पावे। इसके लिए सत्संगति तथा स्वाध्याय उत्तम साधन है। अहंमन्यता कुतर्ककी जननी है, इसका शमन आस्तिकतासे ही हो सकता है।

सतोगुणकी उत्कृष्टतासे साधक कुछ सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वह सुख तथा दुःखोंके आवेगोंमें भी स्वस्थ रहता है। स्वमें स्थित रहता है। जैसे आंधी वस्तुओंको इधर उधर बिखेर देती है उसी तरह सुख और दुःखकी आंधी मानवताको बिखेर देती है। साधकको सोने और मिट्टीमें कोई आकर्षण या विकर्षण नहीं रहता है। साधक धीर हो जाता है। प्रिय-अप्रिय, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ, जय-पराजयमें

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समभाव या स्वस्थ रहता है। अपने रूप या स्वरूपमें स्थिर रहना स्वस्थता है। इसीको स्वभाव भी कहते हैं। मान-अपमान, मित्र-शत्रुमें समभावसे रहनेवाला साधक सभी कार्योंका प्रारम्भ परोपकारके ध्येयसे करता है। इन उपर्युक्त गुणोंका केन्द्री-करण जिस जीवात्मामें होता है वही गुणातीत कहलाता है।

२६ से २७ तक इस अध्यायका उपसंहार है। गुणातीतकी स्थिति ईश्वरकी अनन्य-भक्तिमें हो जाती है। इस स्थितिमें आकर साधक ब्रह्म-वित् ब्रह्मवत् हो जाता है, जैसे आगकी भट्ठीमें लोहा आग ही हो जाता है। परन्तु लोहेमें उष्णत्वका उत्कर्ष स्वाभाविक नहीं, अपितु नैमित्तिक गुण होता है; इसी प्रकार ब्रह्मवित् ब्रह्मवत् होकर परान्त-काल तक मुक्तिका परमानन्द लाभ करता है। इस परान्तको एक तरहसे अनन्त-काल भी कह सकते हैं। इस कालके मध्यमें मुक्तात्मायें जन्म-मरणके चक्करमें नहीं पड सकती हैं। हाँ, यदि वे लोक-हितार्थ अपनी इच्छासे आना चाहती हैं तो उत्पन्न होकर मानवी लीला कर सकती हैं ये आत्मायें लौकिक शब्दोंमें अवतार मानी जाती हैं। इनके जन्म और कर्म दिव्य ही होते हैं।

साधक सतोगुणके परमोत्कर्षसे परम धामको प्राप्त करता है जहाँसे परान्त कालतक नहीं लौटना होता। इसीको अनावृत्ति भी कहते हैं। ईश्वर ही हिरण्यगर्भ है। उसीमें असंख्य ब्रह्माण्ड रोमकी भांति लसे हैं। जैसे हमारी और आपके शरीरमें असंख्य रोम लसे हैं उसी तरह विराट्में असंख्य ब्रह्माण्ड लसे हैं। इसीमें सनातन-धर्म यानी वेद-प्रतिपादित धर्म निहित है, जो कि अनन्त सुखका देनेवाला है।

गीताके इस अध्यायमें इन तीनोंका महत्त्व बताया गया और यह भी बताया गया कि गुणातीतकी स्थिति क्या होती है? ज्ञान ही परम-साधन है जो कि सभी वस्तुओंसे लाभ प्रदान कराता है। आत्मोन्नतिकी दृष्टिसे भी इन गुणोंका बडा महत्त्व-पूर्ण-स्थान है। ओम् का अ, उ और म्, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र होकर रज, सत और तमको सृष्टि कार्यके संचालनके लिए धारण करते हैं, अर्थात् ईश्वर भी ब्रह्माण्डमें इन गुणोंसे कार्य करता है। इसी तरह जीव भी शरीरमें इन गुणोंसे कार्य करता है।

गुण-त्रय और विज्ञान

"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"

इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं। साम्यवस्थाका अभिप्राय अद्रवी-भाव और आपसमें समाकर्षण है। द्रवीभाव आते ही समाकर्षण विकर्षण होकर प्रकृतिमें गति पैदा करता है। यही परिवर्तन परमशक्तिका द्योतक है। क्योंकि जडमें अनुकूल प्रतिकूल क्रियायें नहीं हो सकतीं, इंजनका खडा होना या चलना, सीटी देना और बन्द करना विना चालकके नहीं हो सकता। खैर, प्रकरणान्तरमें जानेकी आवश्यकता नहीं परन्तु यहाँ संकेत करना भी परमावश्यक था।

हम अभी कह चुके हैं कि इन्द्र यानी विद्युत्-शक्ति हमारे शरीरमें मन होकर प्रविष्ट हुआ है। मनका ही विराट्रूप इन्द्रत्व है। मन भी विद्युत्का उत्कृष्ट अंश है। विद्युत् रश्मितत्त्व ही तो है। १९०० ई. के आसपास पियरेक्यूरी और उनकी धर्म-पत्नी मेडेम स्कलोडावस्का क्यूरी दोनों ही पिचब्लैन्ड नामक खनिजका विश्लेषण कर उनमें कौन कौन तत्त्व विद्यमान हैं इसकी खोज कर रहे थे। उन्होंने अथक परिश्रम कर उस खनिजसे दो रश्मिप्रद तत्त्व भिन्न किये, (१) पोलोनियम, (२) रश्मिम् (रेडियम)। इसके बाद ही उसी खनिजसे वरुणम् (यूरेनियम), आदित्यम् (अमोनियम) और देवम् (थोरियम) नामक रश्मि विकरीक-तत्त्व भी प्राप्त हुए।

इन विकरीक रश्मितत्त्वके परमाणु टूटते रहते हैं उनसे तीन प्रकारकी किरणें निकलती हैं। उनका नाम अल्फा, बीटा और गामा है। अल्फा रश्मियां तो वही रश्मियां हैं जो विद्युत्में धनके नामसे बहती हैं और ये सतकी कणिकायें हैं। बीटा नामक रश्मियां विद्युतकी ऋण रूप हैं, जिन्हें रजकणिकायें कहते हैं। गामा नामक रश्मि तम कणिकाओंके टूटनेसे बनती हैं। परमाणुकी रचनाके समय प्रकृतिके सत, रज और तम रूपकी कणिकायें एक स्थानपर जब बंध जाती हैं तो स्थितिमें सृष्टि उत्पादक अहंमानी परमाणुओंका आविर्भाव होता है। अहंकारका अर्थ मनुष्यके अहंभाव या अहंकारसे लगाना सृष्टिक्रमकी श्रृंखलाको भंग करना है। मनुष्य सृष्टिकी आदिमें प्रादुर्भूत नहीं हुआ। यह कल्पना बिलकुल अप्रासंगिक है। इसका प्रसंग तो अहंभावी परमाणुओंसे ही ठीक बैठता है। क्योंकि सृष्टिकी रचना उन्हीं परमाणुओंके

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मेलसे होती है। इसीलिये अहंभावी परमाणु हुए न कि मनुष्य।

विद्युत्की धारा जब एक स्थानसे दूसरे स्थानमें तारों (Wire) द्वारा ले जाते हैं तो साथ साथ तीन तार चलते हैं, एक धनका तार, दूसरा ऋणका तार और तीसरा न्यूट्रल। धनमें तो सतकी कणिकायें बहती हैं। ऋणमें रज विद्युतकी कणिकायें बहती हैं। न्यूट्रलमें तम कणिकायें बहती हैं, किन्तु इसका उपयोग कहीं नहीं होता। क्योंकि प्रकाश व तापके लिये जहाँ आकर धन वा ऋणकी कणिकायें मिलती हैं, इन्हींसे विद्युत् विस्फुलिङ्ग उत्पन्न हो जाता है। इसलिये विद्युत् उदासीनकी उपस्थितिके तारकी जरूरत रहती है, पर उसका उपयोग नहीं होता। क्योंकि प्रकाश उत्ताप उन्हीं तारोंसे मिल जाता है। किन्तु परमाणुकी रचनामें तीनोंका उपयोग होता है।

परमाणुकी रचना प्रकृतिकी सत, रज और तम कणिकाओंके मेलसे होती है। इन्हीं तीनोंकी भिन्न भिन्न संख्या प्रत्येक प्रकारके तत्त्वोंमें रहती है, इसीसे भिन्न भिन्न तत्त्वोंके परमाणुओंमें भिन्न भिन्न तन, मात्रा, धन, रूप और ताप रहता है जब एक सत और एक रज कणिकाकी मुमुक्षामें बंध जाती है तो उससे उदजनतत्त्वके परमाणुका आविर्भाव होता है। उदजन (हाइड्रोजन) समस्त तत्त्वोंके परमाणुओंसे हलका है। इसलिए वैज्ञानिकोंने इसको इकाई माना है। इससे बडा दूसरा तत्व हिमजन (हलियम) है। इसकी रचनामें दो सत कणिकायें और दो तम कणिकायें केन्द्रमें रह कर युयुत्सा उत्पन्न करती हैं तो इसके साथ दो रज कणिकायें इसे घेर कर परिक्रमा देने लगती हैं तब हिमजन परमाणुका प्रादुर्भाव होता है। इससे मात्रामें भारी लालम (लीथियम) का परमाणु होता है। जो उदजनसे छः गुना भारी है। इसमें तीन सत कणिका और तीन तम कणिका केन्द्रमें युयुत्सा उत्पन्न करती है। और तीन रज कणिकायें उन्हें घेर कर लालम तत्त्वकी रचना करती हैं। इस प्रकार इन तीनों गुणोंके सम्मिश्रणसे बान्नवे (९२) तत्वोंका प्रादुर्भाव देखा गया है। उक्त विचार 'आयुर्वेद विज्ञान अक्टूबर १९६२ के' सौजन्य प्राप्त हुआ।

यहाँ विज्ञान और ज्ञान दोनों दृष्टि-कोणोंमें इन तीनों गुणोंका स्थान महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानियोंको विज्ञानियोंका दृष्टि-कोण समझना चाहिए तथा विज्ञानियोंको ज्ञानियोंका। ज्ञानी तो अपने सूक्ष्म मनसे विज्ञान समझ भी सकता है परन्तु वैज्ञानिक आत्मिक-ज्ञानसे अपरिचित ही रहेगा।

॥ इति चतुर्दशोऽध्याय ॥

पंचदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तम--योग

यहाँ प्रकृतिके भी प्रवर्तक पुरुषोत्तम भगवान्का वर्णन है जिसकी भक्तिसे परम-पद मिलता है। संसारकी नियमबद्धता ही एक अलौकिक नियामकका रात-दिन प्रकाशन करती है। संसारको वेद, उपनिषद् और गीता 'अश्वत्थ' यानी पीपल वृक्षका रूपक देकर समझाया है। अश्वत्थ शब्दके कई अर्थ होते हैं। जो आज है वह कल नहीं रहेगा वह अश्वत्थ (न + श्व × स्थ) है।

'असौ वा आदित्योऽश्वः' (तै० ब्रा० ३।९।२३।२)

सूर्य रूपी अश्व जिसके आधार पर स्थित है, वह अश्वत्थ है। विराट् विश्व रूपी अश्व जहाँ स्थित है; वही अश्वत्थ है।

तुलसीदास और विराट् विश्व

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम मने;
षट्कन्ध शाखा पंचवीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल विधि कटुमधुर बेलि
अकेलि जेहि आश्रित रहे;
पल्लवत फूलत नवलनित संसार विटप नमामहे ॥

भावार्थ— संसार रूपी सनातन वृक्षको प्रणाम है। इस अनादि वृक्षकी जडें अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्मके साथ मिली हुई हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया अवस्थायें ही शाखोंमें इस वृक्षकी छाल है। अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा, भूतात्मा ये छः इस वृक्ष के स्कन्ध हैं, जिनमेंसे शाखायें फूटती हैं। पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांचज्ञानेन्द्रियाँ, पांच महाभूत, पांच विषय, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव ये पचीस शाखायें हैं। अनेक मनोरथ इस वृक्षके पत्ते और फूल हैं। मीठे और कडुवे फलवाली माया रूपी बेल इस पेडको चारों ओरसे घेरे हुए है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इस प्रकार यह अनादि वृक्ष सदा हराभरा बना रहता है। इस वृक्षके एक एक पत्ते पर असंख्य युगोंके और अनेक देशोंके इतिहास अंकित हैं। इसकी व्याख्या वेदविद्यामें श्री वासुदेव शरणजी अग्रवालने ऐसी ही की है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा,
गुण-प्रवृद्धा विषयाः प्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि,
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च सं प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥

वास्तवमें विराट्-विश्व तथा मानव-शरीर दोनों ही अश्वत्थ हैं। इस वृक्षको असङ्गताकी (अनासक्तिकी) कुल्हाडीसे काट कर यानी संसारमें अलिप्त रह कर शरीर रूपी अश्वत्थको काट दे। उक्त वृक्षका वर्णन ऋग्वेद १०।८१।२ तथा १।१६४।६ के मंत्रोंमें भी है। तैत्तरीय ब्राह्मणमें भी इस प्रकार है-

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस,
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो,
ब्रह्माध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्॥

ऊर्ध्व और अधः

प्रायः टीकाकारोंने इन दोनोंका अर्थ ऊपर और नीचे किया है। परन्तु श्री डॉ. वासुदेव शरणजी अग्रवालने अपनी 'वेद-विद्या' में ऊर्ध्वका अर्थ केन्द्र और परि अधः का अर्थ परिधि किया है। दार्शनिक परिभाषामें भूमाकी संज्ञा ऊर्ध्व और अणिमाकी संज्ञा अधः है। केन्द्रको ही वैदिकपरिभाषामें हृदय कहते हैं। केन्द्रका परिधि रूप धारण करना ही हिरण्यगर्भ-का विराट् हो जाना है। यही सृष्टिकी प्रक्रिया है। (वेदविद्या पृष्ठ १६३) केप भाव तुलसीदासके पद्यांशकी व्याख्यामें आ गया है।

हाँ, तो ममताके पेडको अनासक्तिके कुठारसे काट कर उस परम-पदकी खोज करनी चाहिए, जहाँ जाकर परान्त काल तक नहीं आना होता। उस अनादि प्रथम पुरुषको प्राप्त करे जिससे यह संसार उत्पन्न हुआ है।

आत्म-ध्यान रत छोड कर मान मोह संग काम।
सुख दुःख नामक द्वन्द छुटि, ज्ञानि पाय सत धाम॥५॥
सूर्य न अग्नि न चन्द्रमा, करत प्रकाशित ताहि।
जहाँ पहुंचि लौटें नहीं, परम धाम मम वाहि॥ ६॥

—: जीवात्मा :—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'।
ईश्वर अंश जीव अविनासी,
चेतन अमर महा सुखरासी॥ तुलसी॥

उक्त भावना बहुत ही भ्रामक है। लोग इस बातको आगके पिण्डकी चिनगारीकी उपमा देकर हृदयङ्गम कराते हैं। परन्तु यदि गहराई तक विचारें तो शंकाओंका तान्ता बँध जाता है। ईश्वर विभु है। अतः वह अखण्ड है। यदि विभुत्व खण्डित हो जाय तो विभुत्वकी मान्यता ही समाप्त हो जाय; क्योंकि कहा भी है 'अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं तेन चराचरम्'। आश्चर्य कि इतना होते हुये भी उस विभुमें अंश तथा अंशीके भावकी कल्पना की जाती है। उपनिषद् भी पुकार पुकार कर कहती है 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'। वेद भी अकायं, अव्रणं उसको बताता है; तब भी जीवको विभुका अंश बताया गया है। आखिर इस कथनका रहस्य क्या है? ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि योगिराज कृष्ण यहाँ पर गलत कह रहे हों। मेरे विचारसे उनका कहना ठीक है परन्तु लोगोंकी समझ गलत है।

जीव समशीतोष्ण वायुकी तरह है वह अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ कितना भी बढ जाय तो सर्वज्ञता उसमें नहीं आ सकती। जीवकी शक्तियाँ परिमित और सीमित हैं। एक लोड खण्डको आगकी भट्ठीमें डाल दीजिये, वह आग हो जायगा। परन्तु क्या वह आगकी भट्ठीकी समग्र उष्णता अपनेमें केन्द्री-भूत कर लेता है? और क्या वह पुनः ठण्डा नहीं हो सकता? यदि कहो कि यह उदाहरण गलत है तो क्या आगके बडे पिण्डका उदाहरण सही है। यदि आप अन्तःकरण अवछिन्न होनेसे चित-ईश्वरी शक्तिको गिरा मानकर घटाकाश महा-काशका उदाहरण देते हैं तो क्या आकाश घरके बाहर भीतर ऊपर नीचे तथा मिट्टीमें नहीं रहता? रहता है। यदि कहो नहीं रहता तो यह कहना अज्ञानताका सूचक है। क्योंकि बिना आकाश या अवकाशके घडेमें गरमी सर्दीका प्रवेश नहीं हो सकता। [क्रमशः]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

६९७ अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्ये—न्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥ ५ ॥
६९८ अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्य१ रणाय ।
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता किंयेधाः ॥ ६ ॥
६९९ अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना ।
मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥ ७ ॥
७०० अस्मा इदु ग्नाश्चिद् देवपत्नी—रिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः ।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥ ८ ॥

अर्थ— [६९७] (श्रवस्या) धनकी इच्छासे (अस्मै इत् इन्द्राय) इस इन्द्रके लिए (अर्कं) स्तोत्रको (सप्तिं इव) जैसे घोडेको रथसे संयुक्त करते हैं, उसी प्रकार (जुह्वा) वाणीसे (समंजे) संयुक्त करता हूँ, उस (वीरं, दान-ओकसं) शूरवीर, दान देनेवाले (गूर्तश्रवसं) श्रेष्ठ यशवाले (पुरां दर्माणं) शत्रुके नगरोंको तोडनेवाले इन्द्रकी (वन्दध्यै) स्तुति करनेके लिये मैं बोलता हूँ ॥ ५ ॥

[६९८] (तुजन्) शत्रुकी हिंसा करते हुए (ईशानः) सबके स्वामी, (कियेधाः) अपरिमित बलवाले इन्द्रने (तुजता) शत्रुओंको मारते हुए (वृत्रस्य चित् मर्म) वृत्रके मर्म स्थानपर (येन विदद्) जिस वज्रसे प्रहार किया, उस (सु-अपस्तमं) उत्तम कर्म करनेवाले, (स्वर्यं) शत्रुपर उत्तमतासे फेंके जानेवाले (वज्रं) वज्रको (रणाय) युद्धके प्रयोजनसे (त्वष्टा) त्वष्टाने (अस्मै इत्) इस इन्द्रके लिए ही (तक्षत्) तैयार किया था ॥ ६ ॥

१ अस्मै इत् त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष— इसी इन्द्रके लिए त्वष्टाने उत्तम वेगवान् वज्रको तैय्यार किया।

[६९९] (मातुः) सबको बनानेवाले (महः अस्य इत्) महान् इस इन्द्रने (सवनेषु) यज्ञोंमें (पितुं चारु अन्नं) हविको और उत्तम सोमको (सद्यः पपिवान्) शीघ्र पिया, तथा (विष्णुः) सर्वव्यापक इन्द्रने शत्रुओंके (पचतं) पके हुए अन्नको (मुषायत्) चुराया, तथा (सहीयान्) शत्रुको मारनेवाले (अद्रिं अस्ता) वज्रको फेंकनेवाले इन्द्रने (तिरः) तिरछा करके (वराहं विध्यद्) मेघको मारा ॥ ७ ॥

[७००] (अहिहत्ये) अहिको मार देनेपर (अस्मै इन्द्राय) इस इन्द्रके लिए (ग्नाः चित्) गति करनेवाली (देवपत्नीः) देव पत्नियोंने (अर्कं ऊवुः) स्तुति की, उस इन्द्रने (उर्वी) विशाल (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोकको (जभ्रे) पकड लिया, अतः (ते) वे द्यावापृथिवी (अस्य महिमानं) इसकी महिमाका (न परि स्तः) पार नहीं पा सकीं ॥ ८ ॥

१ उर्वी द्यावापृथिवी जभ्रे, अस्य महिमानं न परि स्तः— उस इन्द्रने विशाल द्यावापृथ्वीको अपने अधीन किया, अतः वे द्यावापृथिवी इसकी महिमाका पार नहीं पा सके ।

भावार्थ— जिस प्रकार रथमें जुडे हुए उत्तम घोडे शत्रुओंसे लडनेवाले शूरवीरको युद्धमें उत्तमतासे ले जाते हैं, उसी प्रकार स्तुतियोंसे इस इन्द्रको प्रेरित करना चाहिए, ताकि यह शत्रुओंका वध कर सके ॥ ५ ॥

यह इन्द्र कितने ही असंख्य बलोंको धारण करता है। इसीलिए यह सबपर शासन करता है। यह जिस वज्रसे वृत्रासुरके मर्म स्थान पर आघात करता है, उस वज्रको त्वष्टाने इस इन्द्रके लिए विशेष रूपसे तैय्यार किया था। इसी प्रकार राष्ट्रके शत्रुओंको मारनेके लिए लोग तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैय्यार करें और राष्ट्रका संरक्षण करें ॥ ६ ॥

यह इन्द्र सब जगत्का निर्माण करनेवाला है, सबका पालन करनेवाला है। यह सर्वव्यापक है। यह बलशाली इन्द्र शत्रुओंके अन्नोंको नष्ट करके उनका विनाश करता है और वज्रके द्वारा शत्रुओंके नेता वृत्रको मारता है। राजा भी नये नये साम्राज्योंका निर्माण करनेवाला हो, उन सामाज्योंकी प्रजाओंका उत्तम रीतिसे पालन करे ॥ ७ ॥

अहि नामक असुरको मारनेपर प्रसन्न होकर सभी देवपत्नियोंने इन्द्रको स्तुति की। उसके कारण उसका यश इतना बढा कि उसका यश द्युलोक और पृथ्वीलोकमें भी नहीं समा सका। इसी तरह अध्यात्ममें जब जीवात्मा कामक्रोध आदि असुरोंको मार देता है, उन्हें विनष्ट कर देता है, तो सारी देवपत्नियां अर्थात् इन्द्रियोंकी शक्तियां आत्माके वशमें हो जाती हैं और तब उस महापुरुषका विस्तृत यश सर्वत्र फैलता है ॥ ८ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७०१ अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् ।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥ ९ ॥

७०२ अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः ।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्च—दभि श्रवो दावने सचेताः ॥ १० ॥

७०३ अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद् वज्रेण सीमयच्छत् ।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥ ११ ॥

अर्थ— [७०१] (अस्य इत् एव महित्वं) इस इन्द्रका यश (दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात् परि) द्युलोक, पृथिवी, और अन्तरिक्षसे भी (प्ररिरिचे) अधिक है, (दमे स्वराट्) युद्धमें अपने बलसे प्रकाशित होनेवाला (विश्वगूर्तः) सभी वीरोंमें श्रेष्ठ वीर, (सु-अरिः) उत्तम योद्धा (अमत्रः) अपरिमित बलवाला (इन्द्रः) इन्द्र (रणाय ववक्षे) युद्धके लिए जाता है ॥ ९ ॥

१ दमे स्वराट् विश्वगूर्तः इन्द्रः रणाय ववक्षे— युद्धमें अपने बलसे प्रकाशित होनेवाला श्रेष्ठ वीर इन्द्र युद्धके लिए हमेशा तैय्यार रहता है ।

२ अस्य महित्वं दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात् परि— इस इन्द्रकी महिमा द्यु, पृथ्वी और अन्तरिक्षसे भी बडी है ।

[७०२] (स-चेताः इन्द्रः) उत्तम ज्ञानवाले इन्द्रने (अस्य इत् एव शवसा) अपने बलसे (शुषन्तं वृत्रं) शोषण करनेवाले वृत्रको (वज्रेण) वज्रसे (वि वृश्चत्) काट डाला, तथा (गाः न) गौवोंके समान् (व्राणाः) वृत्र द्वारा रोके हुए (अवनीः) भूमिको (अमुंचद्) मुक्त किया, तथा (दावने) दानशील पुरुषके लिए (श्रवः अभि) अन्न दिया ॥ १० ॥

१ इन्द्रः शुषन्तं वृत्रं वज्रेण वि वृश्चत्— इन्द्रने शोषण करनेवाले वृत्रको वज्रसे काट डाला ।

२ व्राणाः अवनीः अमुंचत्— शत्रु द्वारा कब्जेमेंकी गई भूमिको इन्द्रने छुडाया ।

[७०३] (अस्य इत् त्वेषसा) इस इन्द्रके ही बलसे (सिन्धवः रन्तः) नदियां बहती हैं, (यत्) क्योंकि इसने ही उनको (वज्रेण सीं परि अयच्छत्) वज्रसे सीमित कर दिया, (ईशानकृत्) सब पर शासन करनेवाले तथा (तुर्वणिः) शत्रुओंको मारनेवाले इन्द्रने (दाशुषे दशस्यन्) दानशीलके लिए धन देते हुए (तुर्वीतये) तुर्वीती ऋषिके लिए (गाधं कः) स्थानको बनाया ॥ ११ ॥

१ अस्य त्वेषसा सिन्धवः रन्तः— इस इन्द्रके बलसे नदियां बहती हैं ।

२ वज्रेण सीं परि अयच्छत्— वज्रसे इन्द्रने नदियोंको सीमित किया ।

३ तुर्वणिः तुर्वीतये गाधं कः— शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला इन्द्र शत्रुओंको विनष्ट करनेवालेकी ही सहायता करता है ।

भावार्थ— यह इन्द्र अपने शत्रुओंसे लडनेके लिए हमेशा सन्नद्ध रहता है, कभी भी असावधान नहीं रहता । इसीलिए इसके शत्रु भी सदा इससे डरते रहते हैं और इसका यश फैलता रहता है । इसी तरह हर राजा या सेनापतिको चाहिए कि वह युद्धके लिए हमेशा तैय्यार रहे शत्रुओंसे सावधान रहे । जो ऐसा हमेशा सावधान रहता है, वही देशकी अच्छी तरह रक्षा कर सकता है ॥ ९ ॥

उत्तम ज्ञानी इन्द्रने शोषण करनेवाले वृत्रको वज्रसे काट डाला और गायोंको मुक्त किया तथा वृत्रके हाथमें पडी हुई अपनी भूमिको भी छुडाया और इस प्रकार उस इन्द्रका यश फैला । इसी प्रकार राष्ट्रमें प्रजाओंका शोषण करनेवाले जो अधिकारी या अन्य व्यापारी आदि हों, उन्हें विनष्ट करे । राष्ट्रमें गायें स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करें, उन्हें बंधनमें न रखा जाए । शत्रुओं द्वारा जबर्दस्ती कब्जेमें की गई भूमिको राजा मुक्त करे । अर्थात् राष्ट्र अखण्ड रहे ॥ १० ॥

इस इन्द्रके बलके कारण ही नदियां बहती हैं । इसी इन्द्रने वज्रसे नदियोंको सीमित किया है । इसी प्रकार राजा भी बांध आदि बांध कर नदियोंको सीमित करे, अर्थात् नदियां उच्छृंखल होकर बाढ आदिके रूपमें राष्ट्रकी प्रजाओंको कष्ट न दें । यह इन्द्र स्वयं शत्रुओंका विनाशक है, इसलिए शत्रुओंके नाश करनेवाले वीरकी ही यह सहायता करता है ॥ ११ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७०४ अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥ १२ ॥

७०५ अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः ।
युधे यदिष्णान आयुधान्यघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥ १३ ॥

७०६ अस्येदु भिया गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः ॥ १४ ॥

अर्थ—[७०४] हे इन्द्र! (तूतुजानः) शत्रुओंका हिंसक, (ईशानः) सबका स्वामी, (कियेधाः) अपरिमित बलको धारण करनेवाला वह तू (अस्मै वृत्राय) इस वृत्रपर (वज्रं प्रभर) वज्रका प्रहार कर तथा (अर्णांसि इष्यन्) जलोंको बहाते हुए (अपां चरध्यै) प्रवाहोंके बहनेके लिए इस वृत्रके (पर्व) अवयवको (तिरश्चा) वज्रसे (गोः न) जैसे विजली पदार्थोंको काटती हैं, उसी प्रकार (विरद) काट ॥ १२ ॥

[७०५] हे मनुष्य ! (उक्थैः नव्यः) गुणोंसे प्रशंसनीय यह इन्द्र (यत्) जब (युधे) युद्धमें (आयुधानि इष्णानः) शस्त्रोंका प्रहार करता हुआ (ऋघायमाणः शत्रून्) हिंसक शत्रुओंको (निरिणाति) मारता है, तब (तुरस्य अस्य इत्) शीघ्रता करनेवाले इस इन्द्रके (पूर्व्याणि कर्माणि) पुराने कर्मोंका (प्र ब्रूहि) वर्णन कर ॥१३॥

१ युधे आयुधानि इष्णानः ऋघायमाणः शत्रून् निरिणाति— युद्धमें आयुधोंको शत्रुपर मारता है और हिंसक शत्रुओंको नष्ट करता है ।

२ उक्थैः नव्यः— वह इन्द्र अपने ही गुणोंके कारण सबसे प्रशंसनीय होता है ।

[७०६] (अस्य इत् भिया) इस इन्द्रके ही डरसे (गिर यः च दृळ्हाः) पर्वत स्थिर हैं, तथा (जनुषः) सबको उत्पन्न करनेवाले (द्यावा-भूमा च तुजेते) द्युलोक और पृथ्वीलोक कांपते हैं, (जोगुवानः नोधाः) गुणवर्णन करनेवाला नोधा ऋषि (वेनस्य ओणिं उप) इस सुन्दर रूपवाले इन्द्रके रक्षणमें रहकर (सद्यः) शीघ्र ही (वीर्याय भुवत्) बलवान् हो गया ॥ १४ ॥

१ अस्य इत् भिया गिरयः च दृळ्हा— इस इन्द्रके ही डरसे पर्वत स्थिर हैं ।

२ द्यावा-भूमा च तुजेते— द्युलोक और पृथ्वीलोक भी कांपते हैं ।

भावार्थ— अन्तरिक्षकी बिजली जिस प्रकार सभी पदार्थोंको काटती है, अर्थात् जिस पर यह बिजली गिरती है, वही पदार्थ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रका वज्र जिस शत्रु पर पडता है, वही शत्रु नष्ट हो जाता है । इसी तरह राष्ट्रके राजाकी शक्ति हो । जिस शत्रु पर राजाके शस्त्रास्त्र गिरें वह शत्रु सर्वथा नष्ट हो जाए ॥ १२ ॥

यह इन्द्र बडा फुर्तीला और उत्साहवान् है, वह अपने ही गुणोंके कारण सर्वत्र प्रशंसनीय है । अर्थात् दूसरोंके गुणों और बलोंके आधार पर वह काम नहीं करता । वह अपने ही बलोंका आश्रय लेकर हिंसक शत्रुओंका विनाश करता है । इसी तरह हर राष्ट्रका स्वामी स्वावलम्बी हो, दूसरोंकी सहायताके बिना भी वह अपने बलके सहारे राष्ट्रके शत्रुओंका विनाश करे । इस प्रकार वह अपने गुणोंके कारण सर्वत्र प्रशंसनीय हो ॥ १३ ॥

इस इन्द्रके डरके कारण सभी पर्वत स्थिर हैं और सबको उत्पन्न करनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक भी डरते हैं । इस सुन्दर रूपवाले इन्द्रकी उपासना करनेवाले तथा (नो-धा) इसकी स्तुतिको धारण करनेवाले जन शक्तिशाली होते हैं ॥१४॥

*

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७०७ अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषा—मेको यद् वन्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥ १५ ॥

७०८ एवा ते हारियोजना सुवृक्ती—न्द्र ब्रह्माणि गोतमासः अक्रन् ।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ १६ ॥

[६२]

(ऋषिः- नोधा गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।)

७०९ प्र मन्महे शवसानाय शूष—माङ्गूषं गिर्वणसे अङ्गिरस्वत् ।
सुवृक्तिभिः स्तुवत ऋग्मियाया—ऽर्चामार्कं नरे विश्रुताय ॥ १ ॥

अर्थ— [७०७] (एकः भूरेः ईशानः) अकेला ही बहुतसे धनोंका स्वामी यह इन्द्र (यत् वन्ने) जिस स्तोत्रकी इच्छा करता है, (त्यत्) उसको (एषां) ये स्तोतागण (अस्मै इद्) इस इन्द्रके लिए (अदायि) गान करते हैं। (इन्द्रः) इन्द्रने (सौवश्व्ये सूर्ये) स्वश्वके पुत्र सूर्यके साथ (पस्पृधानं) युद्ध करते हुए (सुस्विं) सोमयज्ञ करनेवाले (एतशं प्र आवत्) एतश ऋषिकी रक्षा की ॥ १५ ॥

१ एकः भूरेः ईशानः— यह इन्द्र अकेला ही बहुतसे धनोंका ईश्वर है।

[७०८] हे (हारियोजना इन्द्र) घोडोंको अपने रथमें जोडनेवाले इन्द्र! (गोतमासः) गौतमपुत्रोंने (ते एव) तेरे लिये ही इन (सुवृक्ति ब्रह्माणि) शत्रुको हटानेमें समर्थ स्तोत्रोंको (अक्रन्) किया है, अतः तू (एषु) इनमें (विश्वपेशसं धियं धाः) बहुत रूपवाली बुद्धियोंको लगा। वह (धियावसुः) बुद्धिसे धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र हमारे रक्षणके लिए (प्रातः) प्रातःकाल (मक्षू) शीघ्र ही (जगम्यात्) आवे ॥ १६ ॥

१ गोतमासः विश्वपेशसं धियं धाः— अत्यन्त प्रयत्न करनेवाले ही अत्यन्त सुन्दर रूपवाली बुद्धिको प्राप्त करते हैं।

[६२]

[७०९] हम (शवसानाय) अत्यन्त बलशाली (गिर्वणसे) वाणियोंसे प्रशंसनीय इन्द्रके लिए (अंगिरस्-वत्) अंगिरस् ऋषिके समान (शूषं आङ्गूषं) सुखकारी स्तोत्रका हम (प्र मन्महे) मनन करते हैं। (च) और (सुवृक्तिभिः स्तुवते ऋग्मियाय) शत्रुको हटानेमें समर्थ स्तोत्रोंसे स्तुति करनेवाले ऋषिके लिए पूज्य तथा (विश्रुताय नरे) सुप्रसिद्ध नेता इन्द्रके लिए हम (अर्कं अर्चाम) स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र अकेला ही सब तरहके ऐश्वर्योंपर शासन करता है, इसलिए यह जिस प्रकारकी स्तुतिकी इच्छा करता है, उसी तरहकी स्तुति वह प्राप्त करता है। सब तरहके ऐश्वर्यसे सम्पन्न मनुष्य हर तरहकी सुख और सुविधा प्राप्त कर सकता है ॥ १५ ॥

अत्यन्त परिश्रमी और प्रयत्नशील लोग ही शत्रुओंको हटानेमें समर्थ होते हैं और ऐसे ही लोग उत्तम रूपवाली बुद्धि को प्राप्त करनेमें सफल होते हैं। अर्थात् प्रयत्न करनेसे ही ज्ञान मिल सकता है ॥ १६ ॥

वाणियोंसे प्रशंसनीय तथा प्रसिद्ध अग्रणी अथवा नेता इन्द्रके लिए की जानेवाली स्तुतियोंपर उपासकको मनन करना चाहिए। यहां वेदोंके अर्थके बारेमें कहा है। वेदका मंत्र बोलनेके साथ उसके अर्थज्ञान पर विचार करना चाहिए ॥ १ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७१० प्र वो॑ म॒हे मह॒ि नमो॑ भरध्व॒माङ्गू॑ष्यं शवसा॒नाय॒ साम॑ ।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञा अर्च॑न्तो॒ अङ्गि॑रसो॒ गा अवि॑न्दन् ॥ २ ॥
७११ इन्द्र॒स्याङ्गि॑रसां चे॒ष्टौ वि॒दत् स॒रमा॒ तन॑याय धा॒सिम् ।
बृ॒हस्पति॑र्भि॒नदद्रिं॑ वि॒दद् गाः समु॑स्रि॒याभि॑र्वावशन्त॒ नरः॑ ॥ ३ ॥
७१२ स सु॒ष्टुभा॒ स स्तु॒भा स॒प्त विप्रैः॑ स्व॒रेणाद्रिं॑ स्व॒र्यो॑३ नव॑ग्वैः ।
स॒र॒ण्युभिः॑ फलि॒गमि॑न्द्र शक्र व॒लं रवे॑ण दरयो॒ दश॑ग्वैः ॥ ४ ॥
७१३ गृ॒णानो अङ्गि॑रोभिर्दस्म॒ वि व॑रुषसा॒ सूर्ये॑ण॒ गोभि॒रन्धः॑ ।
वि भूम्या॑ अप्रथय इन्द्र॒ सानुं॒ दि॒वो रज॒ उप॑रमस्तभायः ॥ ५ ॥

अर्थ— [७१०] (येन) जिस इन्द्रकी सहायतासे (नः पूर्वे पितरः) हमारे प्राचीन पितरोंने तथा (पदज्ञाः अङ्गिरसः) पदोंको जाननेवाले अङ्गिरसोंने (अर्चन्त) स्तुति करते हुए (गाः अविन्दन्) ज्ञानको प्राप्त किया। उस (शवसानाय) बलशाली (महे) महान् इन्द्रके लिए (वः) तुम (आङ्गूष्यं साम) स्तुतिके तथा सामके (महि नमः) महान् स्तोत्रको (प्र भरध्वम्) कहो ॥ २ ॥

१ येन नः पूर्वे पितरः गाः अविन्दन्, पदज्ञाः— इसी इन्द्रकी सहायतासे हमारे पूर्वजोंने ज्ञानको प्राप्त किया था और पदोंके ज्ञाता बने थे।

[७११] (इन्द्रस्य अंगिरसां च इष्टौ) इन्द्रके और अंगिरसोंके यज्ञमें (सरमा) सरमाने (तनयाय) अपने पुत्रके लिए (धासिं विदत्) अन्न प्राप्त किया, (बृहः-पतिः अद्रिं भिनत्) बडे बडे देवोंके स्वामी इन्द्रने मेघोंको मारा (गाः विदद्) जलको प्राप्त किया, तब (नरः) मनुष्य (उस्रियाभिः) गायोंसे (सं वावशन्तः) हर्षित होने लगे ॥३॥

[७१२] (नवग्वैः दशग्वैः) उत्तम गतिसे तथा अपनी रश्मियोंसे दशों दिशाओंमें (सरण्युभिः) जानेकी इच्छावाले (सप्त विप्रैः) सात ऋषियोंके द्वारा पूजित (स्वरेण सु-स्तुभा स्तुभा) स्वर युक्त उत्तम प्रशंसनीय वज्रसे (स्वर्यः) प्रशंसनीय (सः सः) उस हे (शक्र इन्द्र) सामर्थ्यशाली इन्द्र ! तूने (फलिगं वलं) जलमें स्थित बल असुरको (अद्रिं) तथा मेघको (रवेण) शब्द करते हुए (दरयः) मारा ॥ ४ ॥

नवग्वा— उत्तम गतिवाला — नवनीतगतयः । निरु. ११।१९

दशग्वा— अपनी किरणोंसे दशों दिशाओंमें गमन करनेवाला।

[७१३] हे (दस्म इन्द्र) दर्शनीय इन्द्र ! तूने (अंगिरोभिः गृणानः) अंगिरा ऋषियोंसे प्रशंसित होते हुए (उषसा सूर्येण) उषा और सूर्यकी सहायतासे (गोभिः) किरणोंद्वारा (अन्धः विवः) अन्धकारका नाश किया, (भूम्याः सानु) भूमिके प्रदेशोंको (वि अ प्रथयः) विस्तृत किया तथा (दिवः रजः उपरं अस्तभायः) द्युलोकके लोकोंके मूल प्रदेशको थामा ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र महाज्ञानी है और समयसे अप्रभावित होनेके कारण गुरुओंका भी गुरु है। इसी ज्ञानी इन्द्रकी कृपासे हमारे पूर्वजोंने ज्ञान प्राप्त किया और पदोंके तथा अङ्गरसोंके जाननेवाले ऋषि बने। वह इन्द्र महाज्ञानी होनेके साथ साथ महाबलशाली भी है। अतः जो बल और ज्ञानकी दृष्टिसे अत्यन्त श्रेष्ठ होता है, वह महान् होता है ॥ २ ॥

सभी देवताओंके स्वामी इन्द्रने मेघोंपर प्रहार करके पानी बरसाया तब सब मनुष्य और गाय आदि पशु बरसात होते देखकर बहुत हर्षित हुए और तब इन्द्र और उसके सहायकोंके लिए लोग यज्ञ करने लगे और उस यज्ञसे बचे हुए अन्नसे कुत्तों आदि जानवरोंका पालन होने लगा ॥ ३ ॥

इन्द्रका वज्र एकबार फेंके जानेपर बडे वेगसे जाता है और इसकी चमक इतनी है कि इसकी किरणोंसे सभी दिशायें चमकती हैं, इसकी सभी प्रशंसा करते हैं। ऐसे वज्रसे वह मेघों और असुरोंको नष्ट करता है ॥ ४ ॥

अङ्गिरा ऋषियोंसे प्रशंसित होते हुए इस इन्द्रने उषा और सूर्यकी सहायतासे अपनी किरणोंको विस्तृत करके अन्धकारको दूर किया। अन्धकारके दूर होते ही भूमिके प्रदेश दिखाई देने लगे। उषा और सूर्यके उगते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥५॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७१४ तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः ।
उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः ॥ ६ ॥

७१५ द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः ।
भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद् रोदसी सुदंसाः ॥ ७ ॥

७१६ सनाद् दिवं परि भूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती स्वेभिरेवैः ।
कृष्णेभिरक्ताषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या ॥ ८ ॥

अर्थ—[७१४] इस इन्द्रने (उपह्वरे) जमीनके प्रदेशमें (उपराः) बहनेवालीं (चतस्रः नद्यः) चार नदियोंको (मधु-अर्णसः) मीठे पानीसे (अपिन्वत्) भर दिया यह (यत्) जो (अस्य दस्मस्य कर्म) इस दर्शनीय इन्द्रका कर्म है (तत् उ प्रयक्षतमं) वही अत्यधिक प्रशंसनीय है, वही (दंसः) कर्म (चारुतमं अस्ति) सबसे सुन्दर है ॥६॥

१ अस्य दस्मस्य कर्म प्रयक्षतमं चारुतमम्— इस दर्शनीय इन्द्रका कर्म अत्यधिक प्रशंसनीय और अत्यधिक सुन्दर है ।

[७१५] (अयास्यः स्तवमानेभिः अर्कैः) अयास्य ऋषिके प्रशंसाके योग्य स्तोत्रोंसे पूजित इन्द्रने (सनजा सनीळे) एक साथ उत्पन्न होनेवाले तथा समान स्थानवाले द्युलोकको (द्विता वि वव्रे) दो रूपमें विभक्त कर दिया, तथा (सु-दंसा) उत्तम कर्मा इन्द्रने (मेने परमे व्योमन्) मानके योग्य उत्तम आकाशमें स्थित (भगः न) सूर्यके समान (रोदसी अधारयत्) द्युलोक और पृथिवी लोकको धारण किया ॥ ७ ॥

१ सु-दंसा रोदसी अधारयत्— उत्तम कर्मा इन्द्रने द्युलोक और पृथ्वी लोकको धारण किया ।

[७१६] (विरूपे) अनेक रूपोंवालीं, (पुनः भुवा) बार बार उत्पन्न होनेवालीं (युवती) दो युवतियां (स्वेभिः एवैः) स्वेच्छानुसार गतियोंसे (दिवं भूमा परि) द्युलोकसे लेकर भूमि तक (सनात्) बहुत समयसे चलती हैं, इनमें (अक्ता) रात्री (कृष्णेभिः) कृष्णवर्णसे युक्त होकर तथा (उषा) उषा (रुशद्भिः वपुर्भिः) देदीप्यमान किरणोंसे युक्त होकर (अन्या अन्या) एक दूसरेसे भिन्न होकर (आ चरतः) चलती हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र जो अपने कर्मोंसे मीठे पानीके सोतोंको बहाता है, वह उसका कर्म अत्यन्त प्रशंसनीय और सबसे सुन्दर है ॥ ६ ॥

सर्वप्रथम केवल एक ही लोक था, आगे जाकर इन्द्रने उस एक लोकके दो विभाग कर दिए और वे ही दोनों भाग द्युलोक और पृथ्वीलोकके नामसे प्रसिद्ध हुए । इस प्रकार दो भाग करके इन्द्र उन दोनों लोकोंके बीचमें स्थित हो गया और वहींसे वह दोनों लोकोंको धारण करने लगा । पृथ्वी और द्युलोकके बीचमें स्थित अन्तरिक्षलोकमें रहनेवाली बिजली अपने सामर्थ्यसे इन दोनों लोकोंको धारण करती है ॥ ७ ॥

इस विश्वमें दो स्त्रियां ऐसी हैं, जो निरन्तर चलती रहती हैं । इनका मार्ग पृथ्वीसे लेकर द्युलोकतक है । इनकी गतिको कोई रोक नहीं सकता । इनमें एक स्त्री काले कपडे पहनकर घूमती है और दूसरी उजले और चमचमाते कपडे पहनकर घूमती है । दोनों एक साथ नहीं रहतीं । पहिलीके रहनेपर दूसरी नहीं रहती और दूसरीके रहनेपर पहली नहीं रहती । इस प्रकार ये दोनों परस्पर विरोधी हैं । इनमें पहिलीका नाम रात्री है और दूसरीका नाम उषा है ॥ ८ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७१७ सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः सूनुर्दाधार शवसा सुदंसाः ।
आमासु चिद् दधिषे पक्वमन्तः पयः कृष्णासु रुशद् रोहिणीषु ॥ ९ ॥
७१८ सनात् सनीळा अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः ।
पुरू सहस्रा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम् ॥ १० ॥
७१९ सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म ददुः ।
पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषाः ॥ ११ ॥
७२० सनादेव तव रायो गभस्तौ न क्षीयन्ते नोप दस्यन्ति दस्म ।
द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः ॥ १२ ॥

अर्थ—[७१७] (सु-अपस्यमानः) उत्तम कर्म करनेवाला (शवसा सूनुः) बलका पुत्र (सु-दंसाः) शोभन कर्मा वह इन्द्र स्तोताओंकी (सख्यं) मित्रताको (सनेमि) बहुत समयसे (दाधार) धारण करता है, हे इन्द्र ! तू (आमासु चित् अन्तः) अपरिपक्व गायोंमें भी (पक्वं पयः) पक्व दूधको (दधिषे) स्थापित करता है और (कृष्णासु रोहिणीषु) काली तथा लाल गायोंमें (रुशद्) सफेद दूधको स्थापित करता है ॥ ९ ॥

१ सु-अपस्यमानः शवसा सूनुः सख्यं सनेमि दाधार— उत्तम कर्म करनेवाला, बलका पुत्र वह इन्द्र स्तोताओंकी मित्रताको प्राचीनकालसे धारण करता है ।

[७१८] (सनात्) बहुत कालसे (सनीळाः) एक स्थान पर रहनेवाली (अ-वाता) स्थिर तथा (अ-मृताः) नष्ट न होनेवालीं (अवनीः) अंगुलियां (सहोभिः) अपने बलसे (पुरू सहस्रा व्रता) बहुतसे हजारों कर्म (रक्षन्ते) करती हैं, तथा (स्वसारः) स्वयं चलनेवालीं अंगुलियां (जनयः पत्नीः न) जैसे मनुष्य अपनी पत्नियोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार (अ-ह्रयाणं दुवस्यन्ति) प्रशस्तगमनवाले इन्द्रकी सेवा करती हैं ॥ १० ॥

[७१९] हे (दस्म) दर्शनीय तथा (अर्कैः नमसा नव्यः) स्तोत्रोंसे तथा नमस्कारोंसे पूज्य इन्द्र ! तेरे पास (सनायुवः वसूयवः) यज्ञ तथा धनकी कामना करनेवाले (मतयः) ज्ञानीजन (ददुः) जाते हैं, हे (शवसावन्) बलवान् इन्द्र ! उनकी (मनीषाः) स्तुतियां (त्वा) तुझे (उशन्तं पतिं उशतीः पत्नीः न) कामना करनेवाले पति को जिस प्रकार कामना करनेवाली पत्नी प्राप्त होती है, उसी प्रकार (स्पृशन्ति) प्राप्त होती हैं ॥ ११ ॥

[७२०] हे (दस्म) दर्शनीय इन्द्र ! (सनात् एव) प्राचीनकालसे ही (तव गभस्तौ) तेरे हाथोंमें विद्यमान (रायः) धन (नः क्षीयन्ते) क्षीण नहीं होते और (न उप दस्यन्ति) नष्ट भी नहीं होते, हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (द्युमान्, क्रतुमान् धीरः असि) तेजस्वी, कर्म करनेवाला तथा वीर है, हे (शचीवः) सामर्थ्यशाली इन्द्र ! तू (तव शचीभिः) अपने सामर्थ्योंसे (नः) हमें (शिक्ष) धन दे ॥ १२ ॥

१ इन्द्र ! सनात् एव तव गभस्तौ रायः न क्षीयन्ते, न उप दस्यन्ति— हे इन्द्र ! प्राचीनकालसे ही तेरे हाथोंमें विद्यमान धन क्षीण नहीं होते, और नष्ट भी नहीं होते ।

भावार्थ— यह इन्द्रकी ही महिमा है कि अपरिपक्व गायोंसे भी पक्के दूधको प्राप्त किया जा सकता है और गायें काली, लाल, सफेद अर्थात् चाहे जिस रंगकी हो, दूध सफेद ही होता है। ऐसे ऐसे उत्तम कर्म करनेवाला बलका पुत्र इन्द्र सभीका मित्र है ॥ ९ ॥

यद्यपि हाथकी अंगुलियां बडी छोटी रहती हैं, पर कर्म करनेके समय एक होकर कर्म करती हैं तथा सगी बहिनोंकी-तरह एक होकर इन्द्रकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार राष्ट्रकी प्रजायें बडी छोटी होनेपर भी राष्ट्रके हितकारी कार्योंमें एक मन-वाली होकर प्रयत्न करे और एक मनसे राजाका हित करें ॥ १० ॥

जिस प्रकार पतिकी कामना करनेवाली स्त्री अपने पतिके पास जाती है, और उसे प्रसन्न करती है, उसी प्रकार यज्ञ तथा धनकी कामना करनेवाले ज्ञानीजन इस इन्द्रके पास जाकर उसे अपने स्तोत्रोंसे प्रसन्न करते हैं ॥ ११ ॥

यह इन्द्र तेजस्वी, परिश्रमी, वीर तथा दानशील है, अतः इसके पास रहनेवाला धन कभी क्षीण या नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जो मनुष्य तेजस्वी होकर परिश्रमसे धन कमायेगा और उसका सदुपयोग दानमें करेगा, उसका धन कभी भी नष्ट नहीं होता। दान करनेसे धनकी वृद्धि ही होती है ॥ १२ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७२१ सनायते गोतम इन्द्र नव्य—मतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय ।
सुनीथाय नः शवसान नोधाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ १३ ॥

[६३]

(ऋषिः- नोधा गौतमः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।)

७२२ त्वं महाँ इन्द्र यो ह शुष्मै—र्द्यावा जज्ञानः पृथिवी अमे धाः ।
यद्ध ते विश्वा गिरयश्चिदभ्वा भिया दृळ्हासः किरणा नैजन् ॥ १ ॥

७२३ आ यद्धरी इन्द्र विव्रता वे—रा ते वज्रं जरिता बाह्वोर्धात् ।
येनाविहर्यतक्रतो अमित्रान् पुरं इष्णासि पुरुहूत पूर्वीः ॥ २ ॥

अर्थ— [७२१] वह इन्द्र (सनायते) सनातनकालसे विद्यमान है, हे (शवसान) बलवान् इन्द्र ! (हरियोजनाय, सु-नीथाय) अपने रथमें घोडोंको जोडनेवाले, उत्तम नेता तेरी स्तुतिके लिए (गोतमः नोधाः) अत्यन्त तेजस्वी स्तोत्रको धारण करनेवाले ऋषिने (नव्यं ब्रह्म) नये स्तोत्रको (नः) हमारे लिए (अतक्षत्) बनाया, वह (धियावसुः) कर्मसे धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र (प्रातः) प्रातःकाल (मक्षू) शीघ्र ही (जगम्यात्) आवे ॥ १३ ॥

[६२]

[७२२] (यः ह) जिस तूने (जज्ञानः) उत्पन्न होते ही (अमे द्यावापृथिवी) भयभीत द्युलोक और पृथ्वीलोकको (शुष्मैः) अपने बलोंसे (धाः) धारण किया, और (यत् ह) क्योंकि (ते भिया) तेरे भयसे (विश्वा अभ्वाः गिरयः) सम्पूर्ण बडे बडे पर्वत (दृळ्हासः चित्) दृढ होते हुए भी (किरणाः न) किरणोंके समान (एजन्) कांपते हैं, इसलिए हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वं महान्) तू महान् है ॥ १ ॥

१ जज्ञानः अमे द्यावापृथिवी शुष्मैः धाः— इस इन्द्रने उत्पन्न होते ही भयभीत द्युलोक और पृथ्वीलोकको अपने बलोंसे धारण किया ।

२ ते भिया विश्वा अभ्वा गिरयः दृळ्हासः चित् किरणाः न एजन्— इस इन्द्रके डरसे सभी बडे बडे पहाड दृढ होते हुए भी किरणोंके समान कांपते हैं ।

[७२३] हे (अविहर्यत क्रतो, पुरुहूत इन्द्र) उत्तम कर्म करनेवाले, बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! तू (यत्) जब अपने रथमें (विव्रता हरी) विविध कर्म करनेवाले घोडोंको (आवेः) जोडता है, तब तू (येन) जिस वज्रसे (अमित्रान्) शत्रुओंको तथा उनके (पूर्वीः पुरः इष्णासि) बहुतसे नगरोंको तोडता है। उस (वज्रं) वज्रको (जरिता) स्तोता (ते बाह्वोः आ धात्) तेरे हाथोंमें स्थापित करता है ॥ २ ॥

१ इन्द्र ! येन अमित्रान् पूर्वीः पुरः इष्णासि वज्रं जरिता ते बाह्वोः आधात्— हे इन्द्र ! तू जिस वज्रसे शत्रुओंको और उनके बहुतसे नगरोंको तोडता है, उस वज्रको स्तोता तेरे हाथोंमें स्थापित करता है।

भावार्थ— यह इन्द्र सनातन कालसे विद्यमान है। अनादि और अनन्त है, यह न कभी उत्पन्न हुआ न कभी मरेगा। यह सदा कर्म करनेमें प्रवृत्त रहता है। और कर्म करके ही धन प्राप्त करता है। कर्ममें अमृत निहित है, अतः कर्म करते रहनेसे जीवनकी वृद्धि होती है और निष्क्रियतासे जीवन क्षीण होता है। साथ ही उस परमात्माकी पूजा भी आवश्यक है। इस प्रकार जो मनुष्य कर्म करता हुआ परमात्माकी उपासना करता है, वह चिरंजीवि होता है ॥ १३ ॥

इन्द्रके कर्म आदर्शरूप हैं, इसने कांपते हुए द्यु और पृथ्वीलोकको धारण किया और दृढतासे खडे हुए पर्वतोंको कंपाया। अर्थात् इस इन्द्रके सामने जो विनीत होकर शुद्ध हृदयसे आया, उसकी इसने रक्षा की, पर जो अभिमानसे इन्द्रके सामने सिर ऊंचा करके खडा रहा उसका इस इन्द्रने नाश किया। इसी प्रकार राजा विनीत और पवित्र हृदयवाले सज्जनोंकी रक्षा करे और उद्धत एवं अभिमानी दुष्टों एवं शत्रुओंका नाश करे ॥ १ ॥

जब जब यह इन्द्र युद्ध करनेके लिए रथमें घोडोंको जोडता है और शत्रुओंके नगरोंको तोडना चाहता है, तब स्तोता गण उसके हाथोंमें शस्त्रास्त्र देते हैं। इसी प्रकार प्राचीनकालमें शत्रुपर आक्रमण करनेके लिए जाते समय राजाके लिए ब्राह्मण स्वस्त्ययन करके उसके हाथोंमें शस्त्र देते थे ॥ २ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७२४ त्वं सत्य इन्द्र धृष्णुरेतान् त्वमृभुक्षा नर्यस्त्वं षाट् ।
त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ यूने कुत्साय द्युमते सचाहन् ॥ ३ ॥

७२५ त्वं ह त्यदिन्द्र चोदीः सखा वृत्रं यद् वज्रिन् वृषकर्मन्नुभ्नाः ।
यद्ध शूर वृषमणः पराचै र्वि दस्यूँर्योनावकृतो वृथाषाट् ॥ ४ ॥

७२६ त्वं ह त्यदिन्द्रारिषण्यन् दृळ्हस्य चिन्मर्तानामजुष्टौ ।
व्य१स्मदा काष्ठा अर्वते वर्धनेव वज्रिञ्छथिह्यमित्रान् ॥ ५ ॥

अर्थ— [७२४] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वं) तू (सत्यः) सत्यका पालक है, (एतान् धृष्णुः) शत्रुओंको मारनेवाला है, (त्वं ऋभुक्षा नर्यः) तू ऋभुओंका स्वामी है, और नेता है (त्वं षाट्) तू सहनशील है, (त्वं) तूने (वृजने पृक्षे आणौ) शत्रुओंको मारनेवाले बडे युद्धमें (द्युमते यूने कुत्साय) तेजस्वी, तरुण कुत्सके लिए (सचा) सहायक होकर (शुष्णं अहन्) शुष्णको मारा ॥ ३ ॥

१ कुत्साय शुष्णं अहन्— बुराइयोंको दूर करनेवाले सज्जनकी रक्षाके लिए इन्द्रने शोषण करनेवालेको मारा ।

[७२५] हे (वृषकर्मन्, शूर, वृषमणः वृथाषाट् वज्रिन् इन्द्र) शौर्यके कर्म करनेवाले, शूरवीर, कामनाओंके पूरक, अनायास ही शत्रुको जीतनेवाले, वज्र धारण करनेवाले इन्द्र ! (यत्) जब तूने (वृत्रं उभ्नाः) वृत्रको मारा, और (यत् ह) जब (योनौ) युद्धमें (दस्यून्) असुरोंको (पराचैः अकृतः) पराङ्मुख कर दिया, तब (त्वं) तूने (सखा) मित्र होकर (त्यत् चोदीः) उस यशको फैलाया ॥ ४ ॥

[७२६] हे (वज्रिन् इन्द्र) वज्रधारी इन्द्र ! (त्वं) तू (मर्तानां अजुष्टौ) शत्रु मनुष्योंके क्रोधित होनेपर (त्यत् दळ्हस्य) उस दृढसे दृढ शत्रुको भी (अरिषण्यन्) मार देता है, हे इन्द्र ! (अमित्रान्) शत्रुओंको (घना इव) हथौडेसे जैसे लोहेको मारते हैं, उसी प्रकार (श्रथि) मार और (अस्मद् अर्वते) हमारे घोडेके लिए (काष्ठाः वि आवः) दिशाओंको खोल दे ॥ ५ ॥

१ त्वं मर्तानां अ-जुष्टौ त्यत् दळ्हस्य अरिषण्यन्— हे इन्द्र ! तू शत्रु मनुष्योंके क्रोधित होनेपर उस दृढसे दृढ शत्रुको भी मार देता है ।

भावार्थ— राजा सत्यमार्ग पर चलनेवाला सत्यका पालक हो, शत्रुओंका विनाशक हो, अपने राष्ट्रमें रहनेवाले ऋभुओं अर्थात् बढई, राज आदि कारीगरोंका रक्षक हो, उत्तम नेता हो, समय पडने पर कष्ट आदियोंको सहनेकी क्षमतावाला हो, तथा घमासान युद्धके शुरु होने पर शत्रुओंका नाश करते हुए आगे बढनेवाला हो, तथा राष्ट्रमेंसे बुराइयोंको दूर करनेवाले सज्जनोंका रक्षक एवं प्रजाका शोषण करनेवाले दुष्टोंका संहारक हो ॥ ३ ॥

राजा शौर्यके काम करनेवाला, शूरवीर, सभीकी सदिच्छाओंको पूरा करनेवाला, बिना कठिनताके शत्रुओंको जीतनेवाला, वज्रके समान तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंको धारण करनेवाला, शत्रुओंको हराकर तथा राष्ट्रमें उपद्रव करके प्रजाको पीडित करनेवाले चोर डाकू आदि दस्युओंको नष्ट करनेवाला तथा सज्जनोंका मित्र हो ॥ ४ ॥

जब कोई शत्रु मनुष्य क्रोधित होकर इन्द्रका मुकाबला करनेके लिए सामने आता है, तो उस समय इन्द्र दृढसे दृढ शत्रुको भी आसानीसे मार देता है । वह शत्रुओंको इसी प्रकार मारता है, जिस प्रकार घनसे लोहेको पीटा जाता है । इस प्रकार शत्रुरहित होकर वह सर्वत्र जाता है अर्थात् उस समय उसके मार्गमें कोई रुकावट नहीं डाल सकता ॥ ५ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७२७ त्वां ह त्यदिन्द्राणसातौ स्वर्मीळ्हे नर आजा हवन्ते ।
तव स्वधाव इयमा समर्य ऊतिर्वाजेष्वतसाय्या भूत् ॥ ६ ॥

७२८ त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त युध्यन् पुरो वज्रिन् पुरुकुत्साय दर्दः ।
बर्हिर्न यत् सुदासे वृथा व—र्गंहो राजन् वरिवः पूरवे कः ॥ ७ ॥

७२९ त्वं त्यां न इन्द्र देव चित्रा—मिषमापो न पीपयः परिज्मन् ।
यया शूर प्रत्यस्मभ्यं यंसि त्मनमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै ॥ ८ ॥

७३० अकारि त इन्द्र गोतमेभि—र्ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम् ।
सुपेशसं वाजमा भरा नः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ ९ ॥

अर्थ— [७२७] हे इन्द्र ! (अर्णसातौ, स्वर्मीळ्हे आजौ) धन प्राप्त करानेवाले, सुखके वर्षक संग्राममें (नरः) योद्धा मनुष्य (त्यद् त्वां) उस प्रसिद्ध तुझे ही सहायार्थ (हवन्ते) बुलाते हैं, ते (स्वधावः) अन्नवान् इन्द्र ! (वाजेषु समर्ये) बलकी परीक्षा होनेवाले संग्राममें (अतसाय्या) योद्धाओं द्वारा प्राप्त की जानेवाली (तव इयं ऊतिः) तेरी यह संरक्षण शक्ति (आ भूत्) हमें प्राप्त हो ॥ ६ ॥

१ वाजेषु अतसाय्या तव इयं ऊतिः आभूत्— बलकी परीक्षा होनेवाले संग्राममें सब लोग इस इन्द्रके रक्षाकी कामना करते हैं ।

[७२८] हे (राजन् वज्रिन् इन्द्र) तेजस्वी वज्रधारी इन्द्र ! (त्वं) तूने (युध्यन्) युद्ध करते हुए (त्यत् सप्त पुरः) शत्रुके उन सात नगरोंको (पुरुकुत्साय) पुरुकुत्सके लिए (दर्दः) तोडा, तथा तूने (सुदासे) सुदासके लिए (यत्) जिस धनको (बर्हिः न) घासके समान (वृथा) बिना परिश्रमके ही (अंहः वर्क्) अंह असुरसे छीन लिया, उस (वरिवः) धनको (पूरवे कः) पुरुके लिए दे ॥ ७ ॥

[७२९] हे (शूर इन्द्र देव) शूरवीर इन्द्र ! (त्वं) तू (यया) जिस शक्तिसे (त्मनं) जीवको शक्तिशाली करता है, वह शक्ति (विश्वधः क्षरध्यै ऊर्जं न) चारों ओर बहनेके लिए जैसे पानीको छोडता है, उसी प्रकार (अस्मभ्यं प्रति यंसि) हमें देता है, (त्यां चित्रां इषं) उस सुन्दर शक्तिको (परिज्मन्) सर्वत्र व्याप्त भूमिमें (आपः न) जैसे जलको बढाता है, उसी प्रकार (पीपयः) बढा ॥ ८ ॥

[७३०] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (हरिभ्यां ते) घोडोंसे युक्त तेरे लिए (गोतमेभिः) गोतमके पुत्रोंने (नमसा ब्रह्माणि अकारि) नमस्कारोंसे युक्त स्तोत्रोंको बनाया, और (आ उक्ता) उनको गाया, हे इन्द्र ! (नः) हमारे लिए (सुपेशसं वाजं आ भर) उत्तम श्रेष्ठ बल दे, वह (धियावसुः) कर्मोंसे धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र (प्रातः) प्रातः काल (मक्षू) शीघ्र ही (जगम्यात्) आवे ॥ ९ ॥

भावार्थ— धन प्राप्त करानेवाले तथा सुख देनेवाले संग्राममें योद्धा इसी इन्द्रको बुलाते हैं और ऐसे संग्रामोंमें, जिनमें योद्धाओंके बलकी परीक्षा होती है, लोग इन्द्रके संरक्षणकी ही कामना करते हैं ॥ ६ ॥

इस इन्द्रने युद्ध करते हुए शत्रुओंके अनेक नगर तोडे, तथा बुराइयोंको दूर करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षा की तथा असुरोंके धनको छीनकर उत्तम पुरुषोंमें बांट दिया । इसी प्रकार राजा भी राष्ट्रमें उपद्रव करनेवाले दस्युओंके धनको छीन कर सज्जनोंका प्रतिपालन करे ॥ ७ ॥

यह इन्द्र आत्माकी शक्तिको बढाता है अर्थात् इन्द्ररूप उस परमात्माकी उपासनासे आत्माकी शक्ति बढती है। इन्द्रकी जिसके ऊपर कृपा होती है, उसकी आत्मशक्ति उसी प्रकार बढती है, जिस प्रकार जलसे अन्न बढता है ॥ ८ ॥

अन्धकारमें भी न रुकनेवाले अर्थात् सदा ही उन्नति करनेवाले ऋषियोंने इन्द्रके लिए स्तोत्रोंको बनाया और गाया । इस प्रकार इन्द्रने प्रसन्न होकर उनकी हर तरहसे रक्षा की और उन्नति की ॥ ९ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

[६४]

(ऋषिः- नोधा गौतमः । देवता- मरुतः । छन्दः- जगती, १५ त्रिष्टुप्)

७३१ वृष्णे शर्धाय सुमखाय वेधसे नोधः सुवृक्तिं प्र भरा मरुद्भ्यः ।
अपो न धीरो मनसा सुहस्त्यो गिरः समञ्जे विदथेष्वाभुवः ॥ १ ॥

७३२ ते जज्ञिरे दिव ऋष्वासः उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः ।
पावकासः शुचयः सूर्या इव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ॥ २ ॥

७३३ युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो वव्रक्षुरध्रिगावः पर्वता इव ।
दृळ्हा चिद् विश्वा भुवनानि पार्थिवा प्र च्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना ॥ ३ ॥

---

[६४]

अर्थ— [७३१] हे (नोधः) काव्य करनेवाले ऋषे ! (वृष्णे) बल पानेके लिए, (सु-मखाय) यज्ञ भली-भाँति हों, इस हेतुसे, (वेधसे) अच्छे ज्ञानी होनेके लिए और (शर्धाय) अपना बल बढानेके लिए (मरुद्भ्यः) मरुतोंके लिए (सु-वृक्ति प्र भर) उत्कृष्टतम काव्योंकी यथेष्ट निर्मिति करो, (धीरः) बुद्धिमान् तथा (सु-हस्त्यः) हाथ जोडकर मैं (मनसा) मनसे उनकी सराहना कर रहा हूँ और (विदथेषु आ-भुवः) यज्ञोंमें प्रभावयुक्त (गिरः) वाणियोंकी (अपः न) जलके समान (सं अञ्जे) वर्षा कर रहा हूं अर्थात् उनके काव्योंका गायन करता हूँ ॥ १ ॥

[७३२] (ते) वे (ऋष्वासः) ऊँचे, (उक्षणः) बडे (असु-राः) जीवनका दान करनेवाले, (अ-रेपसः) पापरहित, (पावकासः) पवित्रता करनेहारे, (सूर्याः इव शुचयः) सूर्यकी भांति तेजस्वी, (द्रप्सिनः) सोम पीनेवाले और (सत्वानः न घोर-वर्पसः) सामर्थ्ययुक्त लोगोंके जैसे बृहदाकार शरीरवाले (रुद्रस्य मर्याः) मानों रुद्रके मरण-धर्मा वीर (दिवः) स्वर्गसे ही (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

[७३३] (युवानः) युवकदशामें रहनेवाले (अ-जराः) बुढापेसे अछूते (अ-भोक्-हनः) अनुदार कृपणोंको दूर करनेवाले (अध्रि-गावः) आगे बढनेवाले (पर्वताः इव) पहाडोंकी तरह अपने स्थानपर अटल रूपसे खडे रहनेवाले (रुद्राः) शत्रुओंको रुलानेवाले ये वीर लोगोंको सहायता (ववक्षुः) पहुँचाते हैं; (पार्थिवा) पृथ्वी पर पाये जानेवाले तथा (दिव्यानि) द्युलोकमें विद्यमान (विश्वा भुवनानि) सभी लोक (दृळ्हा चित्) कितने भी स्थिर हों, तो भी उन्हें ये (मज्मना) अपने बलसे (प्र च्यावयन्ति) अपदस्थ कर देते हैं, विचलित कर डालते हैं ॥ ३ ॥

१ पर्वताः इव (स्थिराः)— यदि शत्रु ही प्रारम्भमें आक्रमण कर बैठें तो भी अपने निर्धारित स्थानोंपर अटल भावसे खडे रहनेवाले अतएव शत्रुदलकी चढाईसे अपनी जगह छोडकर पीछे न हटनेवाले।

२ पार्थिवा दिव्यानि विश्वा भुवना दृळ्हा चित् मज्मना प्र च्यावयन्ति— भूमिपरके तथा पर्वत-शिखरोंपर विद्यमान सुदृढ दुर्गतकको अपने अद्भुत सामर्थ्यसे हिला देते हैं।

भावार्थ— बल, उत्तम कर्म, ज्ञान तथा सामर्थ्य अपनेमें बढे इसलिए वीर मरुतोंके काव्य रचने चाहिए और सार्वजनिक सभाओंमें उनका गायन करना चाहिए ॥ १ ॥

उच्च, महान्, विश्वके हितार्थ अपने प्राणोंका भी न झिझकते हुए बलिदान करनेवाले, निष्पाप, सभी जगह पवित्रता फैलानेवाले तेजस्वी, सोमपान करनेवाले, बलिष्ठ और प्रचंड देहधारी ये वीर मानों स्वर्गसे ही इस भूमंडल पर उतर पडे हों ॥ २ ॥

सदैव नवयुवक, बुढापा आनेपर भी नवयुवकोंके जैसे उमंगभरे, कंजूस तथा स्वार्थी मानवोंको अपने समीप न रहने देनेवाले, किसी भी रुकावटके सामने शीश न झुकाते हुए प्रतिपल आगे ही बढनेवाले, पर्वतकी तरह अपनी जगहपर अटल खडे हुए, शत्रुदलको विचलित करनेवाले ये वीर जनताकी संपूर्ण सहायता करनेके लिए हमेशा सिद्ध रहते हैं। पृथ्वी या स्वर्गमें पाये जानेवाली सुदृढ चीजोंको भी ये अपने बलसे हिला देते हैं, (तो फिर शत्रु इनके सामने थरथर काँपने लगें, तो कौन आश्चर्यकी बात है ?) ॥ ३ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७३४ चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे ।
अंसेष्वेषां नि मिमृक्षुरृष्टयः साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः ॥ ४ ॥

७३५ ईशानकृतो धुनयो रिशादसो वातान् विद्युतस्तविषीभिरक्रत ।
दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयो भूमिं पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः ॥ ५ ॥

७३६ पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः पयो घृतवद् विदथेष्वाभुवः ।
अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—[७३४] (वपुषे) शरीरकी सुन्दरता बढानेके लिए (चित्रैः आञ्जिभिः) भाँति भाँतिके आभूषणोंद्वारा वे (वि अञ्जते) विशेष ढंगसे अपनी सुषमा वृद्धिंगत करते हैं। (वक्षःसु) छातियोंपर (शुभे) शोभाके लिए (रुक्मान्) सुवर्णके बनाये हारोंको (अधि येतिरे) धारण करते हैं। (एषां अंसेषु) इन मरुतोंके कंधोंपर (ऋष्टयः नि मिमृक्षुः) हथियार चमकते रहते हैं। (नरः) ये नेताके पदपर अधिष्ठित वीर (दिवः) द्युलोकसे (स्व-धया साकं) अपने बलके साथ (जज्ञिरे) प्रकट हुए ॥ ४ ॥

[७३५] (ईशान-कृतः) स्वामी तथा अधिकारीवर्गका निर्माण करनेवाले, (धुनयः) शत्रुदलको हिलानेवाले, (रिश-अदसः) हिंसामें निरत विरोधियोंका विनाश करनेवाले, (तविषीभिः) अपनी शक्तियोंसे (वातान्) वायुओं-को तथा (विद्युतः) बिजलियोंको (अक्रत) उत्पन्न करते हैं। (परि-ज्रयः) चतुर्दिक् वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले तथा (धूतयः) शत्रुसेनाको विकंपित करनेवाले ये वीर (दिव्यानि ऊधः) आकाशस्थ मेघोंका (दुहन्ति) दोहन करते हैं और (भूमिं पयसा पिन्वन्ति) यथेष्ट वर्षाद्वारा भूमिको तृप्त करते हैं ॥ ५ ॥

१ दिव्यानि ऊधः दुहन्ति भूमिं पयसा पिन्वन्ति— दिव्य स्तनोंका दोहन करके भूमंडल पर दूधकी वर्षा करते हैं।

[७३६] (सु-दानवः) अच्छे दानी, (आ-भुवः) प्रभावशाली (मरुतः) वीर मरुतोंका संघ (विदथेषु) यज्ञों एवं युद्धस्थलोंमें (घृतवत् पयः) घीके साथ दूध तथा (अपः पिन्वन्ति) जलकी समृद्धि करते हैं, (अत्यं न) घोडेको सिखाते समय जैसे उसे घुमाते हैं, ठीक वैसे ही (वाजिनं) बलयुक्त मेघोंको (मिहे) वर्षाके लिए वे (वि नय-न्ति) विशेष ढंगसे ले चलते हैं, चलाते हैं और तदुपरान्त (स्तनयन्तं उत्सं) गरजनेवाले उस झरनेका-मेघका (अ-क्षितं दुहन्ति) अक्षय रूपसे दोहन करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— वीर मरुत् गहनोंसे अपने शरीर सुशोभित करते हैं, वक्षःस्थलोंपर सोनेके हार पहनते हैं, कंधोंपर चमकीले आयुध धारण करते हैं। ऐसी दशामें उन्हें देखनेपर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों वे स्वर्गमेंसे ही अपनी अतुलनीय शक्तियोंके साथ इस भूमंडलमें उतरे हों ॥ ४ ॥

राष्ट्रके शासनकी बागडोर हाथमें लेनेवाले, शासकोंके वर्गको अस्तित्वमें लानेवाले, शत्रुओंको विचलित करनेवाले, कष्ट देनेवाले शत्रुसैन्यको जड मूलसे उखाड देनेवाले, अपनी शक्तियोंसे चारों ओर बडे वेगसे दुश्मनों पर धावा करनेवाले तथा उन्हें नीचे धकेलनेवाले ये वीर वायुप्रवाह विद्युत् एवं वर्षाका सृजन करते हैं। ये ही मेघोंको दुहकर भूमि पर वर्षारूपी दूधका सेचन करते हैं ॥ ५ ॥

उदारधी तथा प्रभावशाली ये वीर मरुत् यज्ञोंमें घृत, दुग्ध तथा जलकी यथेष्ट समृद्धि करते हैं और घोडोंको सिखाते समय जिस ढंगसे उन्हें चलाते हैं, वैसे ही अन्नके उत्पादनमें सहायता पहुँचानेवाले मेघवृंदको निश्चित राहसे चलाते हैं। उस मेघसमूहरूपी बृहदाकार जलकुंडसे पानीके प्रवाह अविरत रूपसे प्रवर्तित करते हैं ॥ ६ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७३७ महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः ।
मृगा इव हस्तिनः खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम् ॥ ७ ॥
७३८ सिंहा इव नानदति प्रचेतसः पिशा इव सुपिशो विश्ववेदसः ।
क्षपो जिन्वन्तः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित् सबाधः शवसाहिमन्यवः ॥ ८ ॥
७३९ रोदसी आ वदता गणश्रियो नृषाचः शूराः शवसाहिमन्यवः ।
आ वन्धुरेष्वमतिर्न दर्शता विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः ॥ ९ ॥

अर्थ— [७३७] हे मरुतो ! (महिषासः) बडे, (मायिनः) निपुण कारीगर, (चित्र-भानवः) अत्यन्त तेजस्वी (गिरयः न) पर्वतोंके समान (स्व-तवसः) अपने निजी बलसे स्थिर रहनेवाले, परन्तु (रघु-स्यदः) वेगपूर्वक जानेवाले तुम (हस्तिनः मृगाः इव) हाथियों एवं मृगोंके समान (वना खादथ) वनोंको खा जाते हो, तोडमरोड देते हो, (यत्) क्योंकि (आरुणीषु) लाल वर्णवाली घोडियोंमेंसे (तविषीः) बलिष्ठोंको ही (अयुग्ध्वं) तुम रथोंमें लगाते हो ॥ ७ ॥

[७३८] (प्र-चेतसः) ये उत्कृष्ट ज्ञानी वीर (सिंहाः इव) सिंहोंके समान (नानदति) गर्जना करते हैं। (पिशाः इव सु-पिशः) आभूषणोंसे युक्त पुरुषोंकी तरह सुहानेवाले, (विश्व-वेदसः) सब धनोंसे युक्त होकर (क्षपः) शत्रुदलकी धज्जियाँ उडानेवाले, (जिन्वन्तः) लोगोंको संतुष्ट करनेवाले, (शवसा अ-हि-मन्यवः) बलयुक्त होनेके कारण जिनका उत्साह कभी घटता नहीं ऐसे वे वीर (पृषतीभिः) धब्बेवाली घोडियोंके साथ और (ऋष्टिभिः) हथियारोंके साथ (स-बाधः) पीडित जनताकी ओर उसकी रक्षा करनेके लिए (सं इत्) तुरन्त इकट्ठे होकर चले जाते हैं ॥८॥

१ पृषतीभिः ऋष्टिभिः स-बाधः सं इत्— (रक्षिणं गच्छन्ति) = सुशोभित आयुध साथ ले दुःखी जनताके निकट जाकर उनकी रक्षा करते हैं।

[७३९] हे (गण-श्रियः) समुदायके कारण सुहानेवाले, (नृ-साचः) लोगोंकी सेवा करनेवाले, (शूराः) वीर, (शवसा अ-हि-मन्यवः) अत्यधिक बलके कारण न घटनेवाले उत्साहसे युक्त (मरुतः) वीर मरुतो! (रोदसी आ वदत) भूतल एवं द्युलोकको अपनी दहाडसे भर दो, (वन्धुरेषु रथेषु) जिनमें बैठनेके लिए अच्छी जगह है, ऐसे रथोंमें (अमतिः न) निर्मल रूपवालोंके समान तथा (दर्शता विद्युत् न) दर्शन करनेयोग्य विजयीके समान (वः) तुम्हारा तेज (आ तस्थौ) फैल चुका है ॥ ९ ॥

भावार्थ— ये वीर मरुत् बडे भारी कुशल, तेजस्वी, पर्वतकी भांति अपने सामर्थ्यके सहारे अपनी जगह स्थिर रहनेवाले, पर शत्रुओंपर बडे वेगसे हमला करनेवाले हैं और मतवाले गजराजकी भांति वनोंको कुचलनेकी क्षमता रखते हैं। लाल घोडियोंके झुंडमेंसे ये केवल बलयुक्त घोडियोंको ही अपने रथोंमें जोडनेके लिए चुनते हैं ॥ ७ ॥

ये ज्ञानी वीर सिंहकी भांति दहाडते हुए घोषणा करते हैं। आभूषणोंसे बनेठने दीख पडते हैं। सब प्रकारके धन एवं सामर्थ्य बटोरकर और शत्रुदलकी धज्जियाँ उडाकर ये सज्जनोंका समाधान करते हैं। इनमें असीम बल विद्यमान है, इस लिए इनका उत्साह कभी घटता ही नहीं। भाँतिभाँतिके अनूठे हथियार साथमें रखकर पीडित प्रजाका दुःख हरण करनेके लिए ये वीर एकत्रित होकर अत्याचारी शत्रुओंपर चढाई करते हैं ॥ ८ ॥

वीर मरुत् जब गणवेश (वरदी) पहनते हैं, तो बडे प्रेक्षणीय जान पडते हैं। इनमें वीरता कूटकूटकर भरी होती है और जनताकी सेवा करनेका मानों इन्होंने व्रतसा लिया हुआ होता है। पर्याप्त रूपसे बलवान् हैं, अतः इनकी उमंग कभी घटती ही नहीं। जब वे अपने सुशोभित रथोंपर जा बैठते हैं, तो दामिनीकी दमककी भांति तेजस्वी दिखाई देते हैं ॥ ९ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७४० विश्ववेदसो रयिभिः समोकसः संमिश्लासस्तविषीभिर्विरप्शिनः ।
अस्तारः इषुं दधिरे गभस्त्योरनन्तशुष्मा वृषखादयो नरः ॥ १० ॥

७४१ हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्योइ न पर्वतान् ।
मखा अयासः स्वसृतो ध्रुवच्युतो दुध्रकृतो मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ ११ ॥

७४२ घृषुं पावकं वनिनं विचर्षणिं रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि ।
रजस्तुरं तवसं मारुतं गणमृजीषिणं वृषणं सश्चत श्रिये ॥ १२ ॥

अर्थ— [७४०] (रयिभिः विश्व-वेदसः) अनेक धनोंसे युक्त होनेके कारण सर्व धनयुक्त, (सं-ओकसः) एक ही घरमें रहनेवाले, (तविषीभिः सं-मिश्लासः) भाँति भाँतिके बलोंसे युक्त, (वि-रप्शिनः) विशेष सामर्थ्यवान्, (अस्तारः) शत्रुसेनापर अस्त्र फेंकनेवाले, (अन्-अन्त-शुष्माः) असीम सामर्थ्यवाले, (वृष-खादयः) बडे बडे आभूषण धारण करनेवाले, (नरः) नेतृत्वगुणसे विभूषित वीर (गभस्त्योः) बाहुओंपर (इषुं दधिरे) बाण धारण कर रहे हैं ॥ १० ॥

[७४१] (पयो-वृधः) दूध पीकर पुष्ट बननेवाले, (मखाः) यज्ञ करनेवाले, (अयासः) आगे जानेवाले, (स्व-सृतः) स्वेच्छापूर्वक हलचल करनेवाले, (ध्रुव-च्युतः) अटल रूपसे खडे शत्रुओंको भी हिलानेवाले, तथा (दु-ध्र कृतः) दूसरोंके द्वारा न घेरे जानेयोग्य अर्थात् अत्यन्त वीर (भ्राजत् ऋष्टयः) तेजस्वी हथियार साथ रखनेवाले (मरुतः) वीर मरुत् (आ-पथ्यः न) चलनेवाला जिस तरह राहमें पडा हुआ तिनका दूर फेंक देता है, ठीक वैसे ही (पर्वतान्) पहाडोंतकको (हिरण्ययेभिः पविभिः) स्वर्णमय थोंके पहियोंसे (उत् जिघ्नन्ते) उडा देते हैं ॥ ११ ॥

१ पर्वतान् उत् जिघ्नन्ते— पहाडोंको ये नगण्य एवं अकिंचित्कर समझते हैं, इसलिए शत्रुदल पर चढाई करते समय अगर राहमें पहाडोंकी वजहसे कठिनाई प्रतीत हो, तो उन्हें भी तिनका मानकर पार कर जाते हैं और अपने गंतव्य स्थलको पहुंच जाते हैं ।

[७४२] (घृषुं) युद्धके संघर्षमें चतुर, (पावकं) पवित्रता करनेवाले, (वनिनं) जंगलोंमें घूमनेवाले, (वि-चर्षणिं) विशेष ध्यानपूर्वक हलचल करनेवाले, (रुद्रस्य सूनुं) महावीरके पुत्ररूपी इन वीरोंके समूहकी (हवसा) प्रार्थना करते हुए (गृणीमसि) प्रशंसा करते हैं; तुम (श्रिये) अपने ऐश्वर्यको बढानेके लिए (रजस्-तुरं) धूलि उडानेवाले अर्थात् अति वेगसे गमन करनेवाले, (तवसं) बलिष्ठ, (वृषणं) वीर्यवान् तथा (ऋजीषिणं) सोम पीनेवाले (मारुतं गणं) मरुत् समुदायको (सश्चत) प्राप्त हो जाओ ॥ १२ ॥

भावार्थ— विविध धन समीप रखनेवाले, एक ही घर या निवासस्थानमें रहनेवाले, विभिन्न शक्तियोंसे युक्त, शत्रुसेनापर अस्त्र फेंकनेवाले जो भारी गहने पहनते हैं, ऐसे वीर नेता कंधोंपर बाण तथा तरकस धारण करते हैं ॥ १० ॥

गोदुग्ध-सेवनसे पुष्टि पाकर अच्छे कार्य करते हुए शत्रुओंपर हमले करनेके लिए आगे बढनेवाले, स्थिर शत्रुओंको भी विचलित करनेवाले, आभापूर्ण हथियारोंसे सज्ज तथा जिन्हें कोई घेर नहीं सकता, ऐसे ये वीर पर्वतोंको भी नगण्य तथा तुच्छ मानते हैं ॥ ११ ॥

महासमरके छिड जानेपर चतुराईसे अपना कर्तव्य निभानेवाले, पवित्र आचरण रखनेवाले, वनस्थलोंमें संचार करनेवाले, अधिक सोचविचारपूर्वक हलचलोंका सूत्रपात करनेवाले ये वीर मरुत् हैं । हम इन्हीं वीरोंकी सराहना करनेके लिए काव्यगायन करते हैं । तुम लोग भी अपना वैभव बढानेके लिए शीघ्रतासे चढाई करनेवाले, बलिष्ठ, पराक्रमी एवं सोम पीनेवाले मरुतोंके निकट जाओ ॥ १२ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७४३ प्र नू स मर्तः शवसा जनाँ अति तस्थौ व ऊती मरुतो यमावत ।
अर्वद्भिर्वाजं भरते धना नृभि रापृच्छ्यं क्रतुमा क्षेति पुष्यति ॥ १३ ॥

७४४ चर्कृत्यं मरुतः पृत्सु दुष्टरं द्युमन्तं शुष्मं मघवत्सु धत्तन ।
धनस्पृतमुक्थ्यं विश्वचर्षणिं तोकं पुष्येम तनयं शतं हिमाः ॥ १४ ॥

७४५ नू ष्ठिरं मरुतो वीरवन्त मृतीषाहं रयिमस्मासु धत्त ।
सहस्रिणं शतिनं शूशुवांसं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ १५ ॥

[६५]

(ऋषिः- पराशरः शाक्त्यः । देवता- अग्निः । छन्दः- द्विपदा विराट् ।)

७४६ पश्वा न तायुं, गुहा चतन्तं नमो युजानं, नमो वहन्तम् १

७४७ सजोषा धीराः, पदैरनु ग्म नुप त्वा सीदन्, विश्वे यजत्राः ॥ १ ॥ २

अर्थ— [७४३] हे (मरुतः !) मरुतो ! तुम (वः ऊती) अपनी संरक्षक शक्तिके द्वारा (यं वै आवत) जिसकी रक्षा करते हो, (सः मर्तः) वह मनुष्य (शवसा) बलमें (जनान् अति) अन्य लोगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होकर (नु तस्थौ) स्थिर बन जाता है । (अर्वद्भिः वाजं) वह घुडसवारोंके दलकी सहायतासे अन्न पाता है, (नृभिः धना भरते) वीरोंकी मददसे यथेष्ट मात्रामें धन इकट्ठा करता है और (पुष्यति) पुष्ट होता है । उसी प्रकार (आपृच्छ्यं क्रतुं) सराहनीय यज्ञकी ओर (आ क्षेति) चला जाता है, अर्थात् यज्ञ करता है ॥ १३ ॥

[७४४] हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (मघ-वत्सु) धनिक तथा वैभवसंपन्न लोगोंमें (चर्कृत्यं) उत्तम कार्य करनेवाला, (पृत्सु दुस्-तरं) युद्धोंमें विजेता, (द्युमन्तं) तेजस्वी, (शुष्मं) बलिष्ठ, (धन-स्पृतं) धनसे युक्त, (उक्थ्यं) सराहनीय, (विश्व-चर्षणिं) सब लोगोंके हितकर्ता (तोकं) पुत्र एवं (तनयं) पौत्र (धत्तन) होते रहें । उसी प्रकार (शतं हिमाः पुष्येम) हम सौ वर्षतक जीवित रहकर पुष्ट होते रहें ॥ १४ ॥

[७४५] हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (अस्मासु) हममें (स्थिरं वीर-वन्तं) स्थायी तथा वीरोंसे युक्त, (ऋतीषाहं) शत्रुओंका पराभव करनेवाले, (शतिनं सहस्रिणं) सैंकडों और सहस्रों तरहके, (शूशुवांसं) वर्धिष्णु (रयिं) धनको (नु धत्त) अवश्य ही स्थापित करो, (प्रातः) प्रातःकालके समय (धिया-वसुः) बुद्धि द्वारा कर्मोंका सम्पादन करके धन पानेवाले तुम (मक्षु जगम्यात्) शीघ्र हमारे निकट चले आओ ॥ १५ ॥

[६५]

[७४६] (गुहा चतन्तं) गुहामें रहनेवाले, (नमः युजानं) अन्नको सिद्ध करनेवाले, (नमः वहन्तं) अन्नको साथ रखनेवाले, (पश्वा तायुं न) पशुकी (चोरी करके उसके साथ रहनेवाले) चोरको जैसे ॥ १ ॥

[७४७] (सजोषाः धीराः) मिलकर रहनेवाले धीर वीर लोग (पदैः अनु ग्मन्) उसके पावोंके चिन्होंसे पता लगाकर उसे प्राप्त करते हैं, (विश्वे यजत्राः त्वा उप सीदन्) वैसे सभी याजक तेरे समीप चारों ओर बैठते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— ये वीर जिसकी रक्षा करते हैं, वह दूसरोंसे भी अपेक्षाकृत उच्च एवं श्रेष्ठ ठहरता है और अपने पैदल तथा घुडसवारोंके दलमें विद्यमान वीरोंकी सहायतासे यथेष्ट धनधान्य बटोरता हुआ हृष्टपुष्ट होकर भाँति भाँतिके यज्ञ करता रहता है ॥ १३ ॥

उत्साहसे कार्य करनेवाले, लडाइयोंमें सदैव विजयी बननेवाले, शक्ति तथा बलसे लबालब भरे हुए, धन बढानेवाले, सराहनीय, समूची जनताके हितके लिए बडी लगनसे प्रयत्न करनेवाले पुत्र एवं पौत्र धनाढ्य लोगोंके घरोंमें उत्पन्न हों और हम पूरी एक शताब्दि तक जीवित रह कर पुष्टि प्राप्त करें ॥ १४ ॥

हमें उस धनकी आवश्यकता है, जो चिरकाल तक टिक सके, जिससे वीरता बढे, शत्रुदलका निःपात करना सुगम हो कीर्ति फैल सके और जो सैंकडों एवं सहस्रों प्रकारका हो, या जिसकी गिनतीमें शतसंख्याका तथा सहस्र संख्याका उपयोग हो ॥ १५ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७४८ ऋतस्य देवा, अनु व्रता गु—र्भुवत् परिष्टिर्द्यौर्न भूम । ३
७४९ वर्धन्तीमापः, पन्वा सुशिश्वि—मृतस्य योना, गर्भे सुजातम् ॥ २ ॥ ४
७५० पुष्टिर्न रण्वा, क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म, क्षोदो न शंभु ५
७५१ अत्यो नाज्मन्, त्सर्गप्रतक्तः सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते ॥ ३ ॥ ६
७५२ जामिः सिन्धूनां, भ्रातेव स्वस्रा—मिभ्यान्न राजा, वनान्यत्ति । ७
७५३ यद् वातजूतो, वना व्यवस्था—दग्निर्ह दाति, रोमा पृथिव्याः ॥ ४ ॥ ८

अर्थ— [७४८] (देवाः ऋतस्य व्रता अनु गुः) देवोंने सत्यके व्रतोंके अनुकूल गमन किया, व्रतोंका पालन किया। (परिष्टिः भुवत् ,) बडी खोज चारों ओर हुई (द्यौः न भूम) भूमि स्वर्ग समान सुख देनेवाली बनायी गयी ॥३॥

[७४९] (ऋतस्य योना गर्भे सुजातं) सत्यके बीचमें उत्तम प्रकार उत्पन्न (पन्वा सुशिश्विं ईं) स्तुतिसे बढनेवाले इस देवको (आपः वर्धन्ति) जलप्रवाह बढा रहे हैं ॥ ४ ॥

[७५०] (पुष्टिः न रण्वा) पुष्टि जैसी रमणीय होती है, (क्षितिः न पृथ्वी) भूमि जैसी विस्तीर्ण होती है, (गिरिः न भुज्म) पर्वत जैसा भोजन देता है (क्षोदः न शंभु) जल जैसा हितकारी होता है ॥ ५ ॥

[७५१] (अत्यः न अज्मन् सर्गप्रतक्तः) घोडा जैसा युद्धके स्थानपर वीरद्वारा प्रेरित होता हुआ दौडता जाता है (सिन्धुः न क्षोदः) जैसी नदी किनारोंको तोडती हुई आगे बढती है वैसा ही यह अग्नि है (ईं कः वराते) इसको कौन रोक सकता है ? ॥ ६ ॥

[७५२] (सिन्धूनां जामिः) यह नदियोंका मित्र (स्वस्रां भ्राता इव) बहिनोंके लिए भाई जैसा हितकारी, (इभ्यान् न राजा) शत्रुओंका जैसा राजा नाश करता है वैसा यह (वनानि अत्ति) वनोंको खा जाता है ॥ ७ ॥

[७५३] (यत् वातजूतः वना वि अस्थात्) जब वायुसे प्रेरित होकर यह वनोंपर आक्रमण करता है, (अग्निः ह पृथिव्याः रोम दाति) तब यह अग्नि पृथ्वीके बालों-औषधियोंको काटता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— गुहामें रहनेवाले भक्तोंके नमस्कारको स्वीकार करनेवाले चोर जैसे सर्वत्र गुप्त या छिपकर रहनेवाले ईश्वरको ढूंढनेके लिए धीर वीर भक्तपदोंका अनुसंधान करके उस ईश्वरको प्राप्त करते हैं, और उसकी उपासना करनेके लिए ये सब यज्ञ करनेवाले साथ साथ बैठते हैं ॥ १-२ ॥

देवोंने सत्य और उत्तम व्रतोंका पालन किया इससे भूमि स्वर्गके समान रमणीय बन गई । तब सत्यके गर्भ या मध्यमें रहनेवाले तथा प्रशंसाके योग्य इस अग्निको लोग बढाते हैं । यह अग्नि सदा सत्यके द्वारा ही प्राप्य है ॥ ३-४ ॥

पुष्टि जैसी रमणीय होती है, उसी प्रकार यह अग्नि पोषक है और रमणीय भी है। यह भूमिके समान विस्तृत है और पर्वतके समान यह सबको भोजन देता है । जलके समान यह कल्याणकारी, जीवनदाता और हितकर्ता है। जैसे उत्तम घोडा अपने सवारसे प्रेरित होनेपर वेगसे दौडता जाता है और बीचमें रुकता नहीं, उसी प्रकार यह प्रभु भक्तिके शब्दोंसे प्रेरित होकर भक्तके पास सहायताके लिए जाता है । तथा जिस प्रकार नदीका प्रवाह वेगवान् होनेपर भूमिको काटते तथा अन्य विघ्नोंको पार करते हुए आगे बढता है, उसी प्रकार यह अग्नि भी अपने भक्तोंके पास पहुंचता है । उस समय इसको कोई रोक नहीं सकता ॥ ५-६ ॥

अग्निसे जलोंकी उत्पत्ति होनेके कारण यह अग्नि नदियोंका सम्बन्धी है । जैसे भाई बहिनोंका हित करता है, वैसे ही अग्नि सबका भरण-पोषण करता है । यह अग्नि बिजलीके रूपमें मेघोंमें स्थित होकर पानी बरसाता है और उसके द्वारा अन्न उत्पन्न होकर सबका पोषण होता है । इस प्रकार मानो अग्नि ही सबका पोषण करता है ॥ ७ ॥

वायुसे प्रेरित होकर अग्नि जब वनोंपर हमला करता है तब वह अग्नि भूमिके बालों अर्थात् वृक्षोंको काटता है और जिस प्रकार एक राजा शत्रुओंको नष्टभ्रष्ट करता है, उसी प्रकार यह अग्नि वनोंको अर्थात् लकडियोंको खा जाता है । यहां राजाका या क्षत्रियका कर्तव्य बताया है कि जैसे अग्नि लकडीको जलाकर भस्म कर देता है, उसी तरह क्षत्रिय वीर राजा अपने शत्रुओंका नाश करे ॥ ८ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७५४ श्वसित्यप्सु, हंसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो, विशामुषर्भुत् । ९
७५५ सोमो न वेधा, ऋतप्रजातः पशुर्न शिश्वा, विभुर्दूरेभाः ॥ ५ ॥ १०

[५६]

(ऋषिः- पराशरः शाक्त्यः । देवता- अग्निः । छन्दः- द्विपदा विराट् ।)

७५६ रयिर्न चित्रा, सूरो न संदृग्—आयुर्न प्राणो, नित्यो न सूनुः १
७५७ तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः, शुचिर्विभावा ॥ १ ॥ २
७५८ दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो, जेता जनानाम् ३
७५९ ऋषिर्न स्तुभ्वा, विक्षु प्रशस्तो वाजी न प्रीतो, वयो दधाति ॥ २ ॥ ४

अर्थ— [७५४-७५५] (उषः भुत् क्रत्वा विशां चेतिष्ठः) उषःकालमें जागनेवाला, अपने कर्मसे प्रजाओंको जगानेवाला (सोमः न वेधाः) सोमकी भाँति बढानेवाला (ऋतः प्रजातः) सत्यसे उत्पन्न (पशुः न शिश्वा विभुः दूरेभाः) पशुके समान चंचल, सर्वत्र व्यापक दूर तक प्रकाश फैलानेवाला यह अग्नि (हंसः न) हंसके समान (अप्सु सीदन्) जलोंमें बैठकर (श्वसिति) प्राण धारण करता है अर्थात् गति करता है ॥ ९-१० ॥

१ उषः भुत् क्रत्वा विशां चेतिष्ठः— यह अग्रणी उषःकालमें जागकर अपने कर्मसे अन्योंको भी जगानेवाला है ।

[६६]

[७५६-७५७] (रयिः न चित्रा) रमणीय धनके समान चाहने योग्य, (सूरः न संदृक्) ज्ञानीके समान सम्यक् द्रष्टा, (आयुः न प्राणः) जीवनके समान प्राणवान्, (नित्यः न सूनुः) सगे पुत्रके समान हित करनेवाला (तक्वा न भूर्णिः) अश्वके समान पोषण करनेवाला और (पयः न धेनुः) दूधको धारण करनेवाली गौके समान उपकारी यह अग्नि (शुचिः विभावा वना सिषक्ति) प्रज्वलित होकर अपने विशिष्ट प्रकाशसे वनोंको जला देता है ॥१-२॥

१ सूरः न संदृक्— ज्ञानीके समान यह अग्रणी सबको अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है ।
२ नित्यः सूनुः न— सगे पुत्रके समान हितकारी है ।
३ पयः न धेनुः— दूधसे भरपूर गायके समान हितकारी है ।

[७५८-७५९] (ओकः न रण्वः) गृहके समान रमणीय, (यवः न पक्वः) अन्नके समान परिपक्व यह अग्नि (क्षेमं दाधार) लोगोंके लिए कल्याण धारण करता है । (जनानां जेता) शत्रुओंको जीतनेवाला (ऋषिः न स्तुभ्वा) ऋषिके समान स्तुति करनेवाला है और (विक्षु प्रशस्तः) मनुष्योंके मध्यमें प्रशंसनीय, (प्रीतः वाजी न) प्रसन्न मनवाले वीरके समान (वयः दधाति) सबके हितके लिए अपना जीवन अर्पित करता है ॥ ३-४ ॥

१ रण्वः क्षेमं दधाति— यह रमणीय अग्रणी लोगोंका कल्याण करता है ।
२ विक्षु प्रशस्तः प्रीतः वयः दधाति— प्रजाजनोंमें प्रशंसित तथा प्रसन्न मनवाला यह अग्रणी नेता लोगोंके हितके लिए अपना जीवन अर्पित करता है । यह नेताका एक उत्तम लक्षण है ।

भावार्थ— हमेशा कर्म करनेवाला, बढानेवाला, सत्यकी वृद्धिके लिए प्रकट हुआ, चंचल यह अग्नि यज्ञ कर्मोंमें प्रकट होता है ॥ ९-१० ॥

यह अग्रणी देव चाहने योग्य, सम्यक् द्रष्टा, प्राणदाता, हितकारी, पोषक, उपकारी तथा तेजस्वी है ॥ १-२ ॥

रमणीय, उपभोगके योग्य पदार्थोंको देनेवाला, शत्रुओंका विजेता, मनुष्योंमें पूज्य, सदा प्रसन्न रहनेवाला यह अग्रणी नेता अपनी प्रजाओंकी भलाईके लिए अपना जीवन भी दे देता है ॥ ३-४ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७६० दुरोकशोचिः, क्रतुर्न नित्यो जायेव योनावरं विश्वस्मै ५
७६१ चित्रो यदभ्राट्, श्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी, त्वेषः समत्सु ॥ ३ ॥ ६
७६२ सेनेव सृष्टामं दधात्य—स्तुर्न दिद्युत्, त्वेषप्रतीका ७
७६३ यमो ह जातो, यमो जनित्वं जारः कनीनां, पतिर्जनीनाम् ॥ ४ ॥ ८
७६४ तं वश्चराथा, वयं वसत्या—स्तं न गावो, नक्षन्त इद्धम् ९
७६५ सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनो—नवन्त गावः स्व१र्दृशीके ॥ ५ ॥ १०

अर्थ— [७६०-७६१] (दुरोकशोचिः) असह्य तेजवाला, (क्रतुः न नित्यः) नित्य शुभ कर्म करनेवालेके समान कर्मशील (योनौ जाया इव विश्वस्मै अरं) जिस प्रकार घरमें स्त्री सुख देती है, उसी तरह सबको पर्याप्त सुख देनेवाला (चित्रः) विचित्र दीप्ति युक्त यह अग्नि (यत् अभ्राट्) जब प्रकाशमान होता है, उस समय (श्वेतः न) शुभ्र वर्णवाले आदित्यके समान हो जाता है (विक्षुः रथः न) प्रजाओंमें महारथी वीरके समान प्रशंसनीय यह अग्नि (समस्तु रुक्मी त्वेषः) संग्रामोंमें सुवर्णमय तेजसे पूरित होता है ॥ ५-६ ॥

१ योनौ जाया इव सर्वस्मै अरं— घरमें जिस प्रकार स्त्री सुखदायी होती है, उसी तरह यह अग्रणी सबको पर्याप्त सुख देता है ।

२ समत्सु रुक्मी त्वेषः— यह अग्रणी वीर युद्धोंमें और अधिक तेजस्वी हो जाता है ।

[७६२-७६३] (सृष्टा सेना इव) शत्रु पर भेजी गई सेनाकी तरह यह अग्नि (अमं दधाति) बलको धारण करता है । (अस्तुः न दिद्युत् त्वेषप्रतीका) वेगसे फेंके गए बिजलीके अस्त्रके समान वह भयंकर और दीप्तियुक्त मुखवाला है । (यमः जातः, यमः जनित्वं) जो उत्पन्न हुआ, या जो भविष्यमें उत्पन्न होगा, उन सबका नियामक अग्नि है । अग्नि (कनीनां जारः, जनीनां पतिः) अग्नि कन्याओंका कौमार्य समाप्त करनेवाला, तथा विवाहिताका पति है । (स्त्रियां गार्हपत्य अग्निकी पतिके साथ नित्य पूजन करती हैं इस दृष्टिसे उसको पति कहा गया है) ॥ ७-८ ॥

१ सृष्टा सेना इव अस्तुः दिद्युत् अमं दधाति— शत्रु पर प्रेरित की गई सेनाके समान और वेगसे फेंके गए अस्त्रके समान यह अग्रणी बलशाली है ।

२ कनीनां जारः— यह अग्नि कुमारियोंको कौमार्य समाप्त करता है । विवाहके समय अग्निमें लाजाकी आहुति पडनेके बाद कन्यापन समाप्त हो जाता है । (विवाहसमये अग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते । (सायण)

[विवाहमें लाजाकी आहुति दी जाती है, उसके पश्चात् कन्या पत्नी बन जाती है । अथवा ' लज्जा एव लाजा ' लज्जा ही लाजा है । विवाहोपरान्त पतिके विषयमें पत्नी लज्जा धारण नहीं करती । अथवा जिस स्त्रीकी लज्जा नष्ट हो जाये उसका कन्यात्व भी नष्ट हो जाता है ।]

[७६४-७६५] हे अग्ने ! (गावः) गौवें (अस्तं न,) जिस प्रकार सूर्यके अस्त होने पर घरको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार (चराथा वसत्या वयं) पशु और मनुष्योंसे युक्त होकर हम (तं वः) उस प्रसिद्ध तुझको (नक्षन्ते) प्राप्त होते हैं । यह अग्नि (सिन्धुः न क्षोदः नीचीः प्र ऐनोत्) प्रवाहित जलके समान ज्वालाओंको प्रवाहित करता है । उसकी (दृशोके गावः) दर्शनीय किरणें (स्वः नवन्त) आकाशकी ओर ऊपरको उठती हैं ॥ ९-१० ॥

भावार्थ— यह अग्रणी अत्यन्त तेजस्वी, कर्मशील, सुखकारी प्रकाशमान् तथा महारथी है । युद्धमें भी अत्यन्त तेज एवं दृढताके साथ पराक्रम दिखाता है, इसलिए यह मनुष्योंमें प्रशंसनीय होता है ॥ ५-६ ॥

यह अग्रणी सेनाके समान बलशाली तथा शस्त्रके समान भयंकर है । संसारमें उत्पन्न हुए या उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थोंका यह अग्नि नियामक है । सभी पदार्थोंके अन्दर उष्णता रहती है और इसी कारण उनकी सत्ता भी रहती है ॥७-८॥

शामको अपने घरकी तरफ आनेवाली गायोंकी तरह हम भी इस अग्निकी ओर जाते हैं । यह अग्नि जब अपनी ज्वालाओंको प्रकट करता है, तब इसकी ज्वालाएं आकाशमें फैलती हैं ॥ ९-१० ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

[६७]

(ऋषिः- पराशरः शाक्त्यः । देवता- अग्निः । छन्दः- द्विपदा विराट् ।)

७६६ वनेषु जायुर्मर्तेषु मित्रो वृणीते श्रुष्टिं, राजेवाजुर्यम् १

७६७ क्षेमो न साधुः क्रतुर्न भद्रो भुवत् स्वाधीर्होता हव्यवाट् ॥ १ ॥ २

७६८ हस्ते दधानो, नृम्णा विश्वान्यमे देवान् धाद्, गुहा निषीदन् ३

७६९ विदन्तीमत्र, नरो धियंधा हृदा यत् तष्टान्, मन्त्राँ अशंसन् ॥ २ ॥ ४

७७० अजो न क्षां, दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां, मन्त्रेभिः सत्यैः ५

७७१ प्रिया पदानि, पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने, गुहा गुहं गाः ॥ ३ ॥ ६

---

[६७]

अर्थ— [७६६-७६७] (राजा अजुर्य इव) जैसे राजा सर्व गुणसम्पन्न वीर पुरुषका वरण करता है वैसे ही (वनेषु जायुः) जंगलमें उत्पन्न, (मर्तेषु मित्रः) मनुष्योंमें मित्र, (क्षेमः न साधुः) रक्षकके समान हितकारी (क्रतुः न भद्रः) यज्ञके समान पूज्य (होता) देवोंको बुलानेवाला अग्नि भी प्रजाकी (श्रुष्टिं) सहायता करनेवालेको (वृणीते) स्वीकार करता है अर्थात् उसका सम्मान करता है। ऐसा (हव्यवाट्) हविको लेजानेवाला यह अग्नि हमारे लिये (स्वाधीः भुवत्) कल्याण करनेवाला हो ॥ १-२ ॥

१ मित्रः साधुः श्रुष्टिं वृणीते— सबका मित्र, सज्जनोंका हित करनेवाला यह अग्रणी प्रजाके कल्याण करनेवालेको अपना सहायक चुनता है।

[७६८-७६९] (विश्वानि नृम्णा) सम्पूर्ण धनोंको (हस्ते दधानः) हाथमें धारण कर (गुहा, निषीदन्) गुफामें रहते हुए इस अग्निने (देवान् अमे धाद्) देवोंको बलमें स्थापित किया। (यत् हृदा तष्टान् मन्त्रान् अशंसन्) जब हृदयसे उत्पन्न मन्त्रोंसे स्तुति करते हैं तब (धियं धा नरः अत्र ईं विन्दन्ति) बुद्धिको धारण करनेवाले मनुष्य यहाँ इस अग्निको जानते हैं ॥ ३-४ ॥

[७७०-७७१] (अजः न क्षां दाधार) अजन्मा होकर इस अग्निने पृथ्वीको धारण किया, उसीने (पृथिवीं) अन्तरिक्षको धारण किया तथा (सत्यैः मन्त्रेभिः) सत्य संकल्पोंसे (द्यां तस्तम्भ) द्युलोकको भी स्थिर किया है। हे (अग्ने) अग्ने ! तू (पश्वः प्रिया पदानि निपाहि) पशुओंके प्रिय स्थानोंकी रक्षा कर। क्योंकि (विश्वायुः गुहा गुहं गाः) सब प्राणियोंका आयु रूप तू गुहाओंके अत्यन्त गुप्तस्थानोंमें प्रवेश करता है ॥ ५-६ ॥

भावार्थ— कल्याणकारी, पूज्य, सभीका मित्र यह अग्रणी उसीको अपना सहकारी चुनता है, जो प्रजाकी सहायता करता है। इसीलिए यह अग्नि सदा कल्याणके कामोंमें तत्पर रहता है ॥ १-२ ॥

जब लोग मंत्रोंसे इसकी प्रशंसा करते हैं, तब यह अग्रणी अपना बल प्रकट करता है और फिर अपने बलसे देवोंमें शक्ति बढाता है ॥ ३-४ ॥

यह अग्नि ही अपने सत्यके बलसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकोंको धारण करता है। वह अत्यन्त गुप्त रहता है। पर हम सबका रक्षक है ॥ ५-६ ॥

अग्निरूपसे पृथिवीपर, विद्युद्रूपसे अन्तरिक्षमें और सूर्यादिके रूपमें द्युलोकमें अग्नि ही रहता है। और सर्वत्र अग्निके कार्य करता है।

*

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७७२ य ईं चिकेत, गुहा भवन्त—मा यः ससाद, धारामृतस्य ७
७७३ वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद् वसूनि, प्र ववाचास्मै ॥ ४ ॥ ८
७७४ वि यो वीरुत्सु, रोधन्महित्वो—त प्रजा, उत प्रसूष्वन्तः ९
७७५ चित्तिरपां, दमे विश्वायुः सद्मेव धीराः, समायं चक्रुः ॥ ५ ॥ १०

[६]

(ऋषिः- पराशरः शाक्त्यः । देवता- अग्निः । छन्दः- द्विपदा विराट् ।)

७७६ श्रीणन्नुप स्थाद्, दिवं भुरण्युः स्थातुश्चरथं सक्तून् व्यूर्णोत् १
७७७ परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद् देवो, देवानां महित्वा ॥ ६ ॥ २

अर्थ— [७७२-७७३] (यः गुहा भवन्तं ईं चिकेत) जो गुफामें स्थित इस अग्निको जानता है। और (यः ऋतस्य धारां आ ससाद) जो यज्ञके धारक अग्निकी उपासना करता है। तथा (ये ऋता सपन्तः विचृतन्ति) जो लोग यज्ञमें अग्निकी स्तुति करते हैं, (आत् इत् अस्मै वसूनि प्र ववाच) तदनन्तर अग्नि उन सब स्तोतृ जनोंके लिये श्रेष्ठ धनोंकी प्राप्तिके मार्ग बतलाता है ॥ ७-८ ॥

१ यः आ ससाद अस्मै वसूनि प्र ववाच— जो इस अग्रणीकी उपासना करता है, उसे ही यह अग्नि धन-प्राप्तिके मार्ग बताता है।

[७७४-७७५] (यः वीरुत्सु महित्वा विरोधत्) जो अग्नि औषधियोंमें अपना महत्व स्थापित करता है तथा (उत प्रजाः प्रसूषु अन्तः इति) पुष्प फलादि प्रकट करनेवाले वृक्षोंमें भी अपना महत्त्व स्थापित करता है। (धीरः) ज्ञानी पुरुष उस (चित्तिः अपां दमे विश्वायुः) ज्ञान देनेवाले तथा जलोंके मध्यमें स्थित अग्निकी, (सद्म इव) घरकी तरह (समाय चक्रुः) पूजा करके अपने काम करते हैं ॥ ९-१० ॥

१ वीरुत्सु महित्वा विरोधत्— वृक्ष वनस्पत्यादियोंमें यह अपना महत्त्व प्रकट करता है।

[६८]

[७७६-७७७] (भुरण्युः) हविको धारण करनेवाला अग्नि (स्थातुः चरथं श्रीणन्) स्थावर तथा जंगम वस्तुओंको परिपक्व कर (दिवं उपस्थातुः) आकाशको प्राप्त हुआ। उसीने (अक्तून् व्यूर्णोत्) सब रात्रियोंको अपने तेजसे प्रकाशित किया, (एषां विश्वेषां देवानां) इन सब देवोंका (यत् महित्वा) जो महात्म्य था, उस महात्म्यको (एकः देवः) एक अग्निने ही (परि भुवत्) सब ओरसे प्राप्त कर लिया ॥ १-२ ॥

१ विश्वेषां देवानां महित्वा परि भुवत्— सभी देवोंका महत्व इस अग्निने पा लिया। यह अग्रणी देव अन्य सब देवोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्ववाला है।

भावार्थ— जो गुप्तस्थानमें छिपे हुए इस अग्निको जानकर इसकी प्रशंसा, उपासना व स्तुति करता है, वही धन प्राप्त करता है ॥ ७-८ ॥

सबसे प्रथम अग्निकी पूजा करनी चाहिए। इतना महत्त्व इस अग्निका है जो सर्वत्र उपस्थित है ॥ ९-१० ॥

यह अग्नि सब स्थावर और जंगमको जीवन देता हुआ द्युलोककी ओर बढता है। इसलिए यह देवोंमें सर्वाधिक महत्व शाली है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति आदियोंमें अग्निके कारण ही जीवनतत्त्व है ॥ १-२ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७७८ आदित् ते विश्वे, क्रतुं जुषन्त शुष्काद् यद् देव, जीवो जनिष्ठाः ३
७७९ भजन्त विश्वे, देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो, अमृतमेवैः ॥ ४ ॥ ४
७८० ऋतस्य प्रेषा, ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे, अपांसि चक्रुः ५
७८१ यस्तुभ्यं दाशाद्, यो वा ते शिक्षात् तस्मै चिकित्वान्, रयिं दयस्व ॥ ३ ॥ ६
७८२ होता निषत्तो, मनोरपत्ये स चिन्नवासां, पती रयीणाम् ७
७८३ इच्छन्त रेतो, मिथस्तनूषु सं जानत स्वैर्दक्षैरमूराः ॥ ४ ॥ ८
७८४ पितुर्न पुत्राः, क्रतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य, शासं तुरासः ९
७८५ वि रायो और्णोद्, दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं, स्तृभिर्दमूनाः ॥ ५ ॥ १०

अर्थ— [७७८-७७९] हे (देव) प्रकाशमान् अग्ने ! (यत् शुष्कात् जीवः जनिष्ठाः) जब तू सूखे काष्ठके घर्षणसे जलकर उत्पन्न हुआ, तो उसके (आत् इत्) अनन्तर ही (विश्वे ते क्रतुं जुषन्त) सब देव गण तेरे इस कर्तृत्वकी प्रशंसा करने लगे। (अमृतं, एवैः सपन्तः) मरण रहित इस प्रकारके तुझको प्राप्त होनेसे ही (विश्वे नाम ऋतं देवत्वं भजन्त) वे सब देव यश, सत्य और देवत्वको प्राप्त कर सके ॥ ३-४ ॥

१ अमृतं एव सपन्तः विश्वे नाम ऋतं देवत्वं भजन्ते— उस अमर अग्रणीकी उपासना करके सब लोग यश, सत्य और देवत्व प्राप्त करते हैं।

[७८०-७८१] यह अग्नि (ऋतस्य प्रेषाः) सत्यका प्रेरक और (ऋतस्य धीतिः) सत्यका रक्षक है (विश्वायुः, विश्वे अपांसि चक्रुः) यह सबको आयु प्रदान करनेवाला है; सब इसीके लिये यज्ञ कर्म करते हैं। (तुभ्यं यः दाशात्) हे अग्ने ! तेरे लिये जो हव्य प्रदान करता है; (यः वा ते शिक्षात्) और जो तुझसे ज्ञान प्राप्त करता है (तस्मै चिकित्वान् रयिं दयस्व) तू उसकी योग्यता जानकर धन प्रदान कर ॥ ५-६ ॥

१ यः शिक्षात्, रयिं दयस्व— जो ज्ञान प्राप्त करता है, वही धन भी प्राप्त करता है।

[७८२-७८३] (मनोः अपत्ये होता निषत्तः) मनुष्योंमें होता रूपसे विद्यमान (सः चित् नु आसां रयीणां पतिः) वह अग्नि ही प्रजाओं और धनोंका स्वामी है। (तनूषु मिथः रेतः इच्छन्तः) आपसमें वीर्यके सम्बन्धकी इच्छा करते हुए (अमूराः स्वैः दक्षैः सं जानत) उन ज्ञानियोंने अपने सामर्थ्योंसे पुत्रप्राप्तिके मार्गको जाना ॥ ७-८ ॥

[७८४-७८५] (पितुः न पुत्राः) पिताका आदेश माननेवाले पुत्रोंके समान (ये अस्य शासं) जिन मनुष्योंने इस अग्निकी आज्ञाको (श्रोषन्, तुरासः क्रतुं जुषन्त) सुनकर शीघ्र ही कर्म प्रारंभ कर दिया, उनके लिये (पुरुक्षुः रायः दुरः वि और्णोत्) बहुत अन्नके देनेवाले अग्निने धनके द्वार खोल दिये। (दमूनाः स्तृभिः नाकं पिपेश) संयमसे रहनेवाले इस अग्निने ही नक्षत्रोंसे आकाशको अलंकृत किया ॥ ९-१० ॥

१ ये अस्य शासं क्रतुं जुषन्त, रायः दुरः वि और्णोत्— जो मनुष्य इस अग्निके शासनमें रहकर कर्म करते हैं, उनके लिए यह अग्नि धनके द्वार खोल देता है।

भावार्थ— जब यह अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, तब इसकी सब उपासना करते हैं। इस अग्निकी उपासना करके ही यश और देवत्व प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३-४ ॥

वह अग्रणी सत्यका पालक एवं रक्षक है, उसीकी प्रेरणासे सब कर्म करते हैं। जो इससे नम्रतासे ज्ञान प्राप्त करता है, वही धन भी प्राप्त करता है ॥ ५-६ ॥

वह अग्नि धनोंका स्वामी है। उसी अग्निकी प्रेरणासे मनुष्योंने सन्तानोत्पत्तिका क्रम चलाया ॥ ७-८ ॥

यह मनुष्य अपने शासनमें रहकर धर्म करनेवालोंको धन प्रदान करता है। यह स्वयं भी संयमी है। इसीके सामर्थ्यसे आकाशमें नक्षत्र स्थिर हैं ॥ ९-१० ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

[६९]

(ऋषिः- पराशरः शाक्त्यः । देवता- अग्निः । छन्दः- द्विपदा विराट् ।)

७८६ शुक्रः शुशुक्वाँ, उषो न जारः पप्रा समीची, दिवो न ज्योतिः १
७८७ परि प्रजातः, क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां, पिता पुत्रः सन् ॥ १ ॥ २
७८८ वेधा अदृप्तो, अग्निर्विजान—न्नूधर्न गोनां, स्वाद्मा पितूनाम् ३
७८९ जने न शेवः, आहूर्यः सन् मध्ये निषत्तो, रण्वो दुरोणे ॥ २ ॥ ४
७९० पुत्रो न जातो, रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो, विशो वि तारीत् ५
७९१ विशो यदह्वे, नृभिः सनीळा अग्निर्देवत्वा, विश्वान्यश्याः ॥ ३ ॥ ६

---

[६९]

अर्थ—[७८६-७८७] (उषः जारः न शुक्रः शुशुक्वान्) उषा-प्रेमी सूर्यके समान शुभ्रवर्ण अग्नि सबका प्रकाशक है । तथा (दिवः न ज्योतिः समीची पप्रा) प्रकाशमान् सूर्यकी ज्योतिके समान अपने तेजसे द्यौ और पृथ्वीको एक साथ पूर्ण करता है । हे अग्ने ! तूने (प्रजातः क्रत्वा परि बभूथ) उत्पन्न होकर अपने कर्म अथवा प्रकाशसे सारे विश्वको व्याप्त कर लिया और (देवानां पुत्रः सन् पिता भुवः) तू देवताओंका पुत्र होता हुआ भी उनका पिता हो गया ॥ १-२ ॥

१ शुक्रः समीची पप्रा— यह तेजस्वी अग्नि द्यु और पृथ्वीको अपने प्रकाशसे भर देता है ।

२ देवानां पुत्रः सन् पिता भुवः— देवोंका पुत्र होता हुआ भी यह अग्नि हवि आदि पहुंचाकर उनका पालन करता है ।

[७८८-७८९] (वेधाः अदृप्तः) बुद्धिमान् और अहंकारसे रहित, (विजानन् अग्निः) कर्तव्याकर्तव्यको जानते हुये अग्नि, (गोनां ऊधः न) गौवोंके थनके दूधके समान (पितूनां स्वाद्म) अन्नोंको स्वादिष्ट करता है । और (जने नः शेवः) मनुष्योंमें हितैषी पुरुषकी तरह (मध्ये आहूर्यः सन्) यज्ञके मध्यमें आहूत होकर (दुरोणे निषत्तः रण्वः) यज्ञ गृहमें आकर शोभायमान होता है ॥ ३-४ ॥

१ वेधाः अदृप्तः गोनां ऊधः न पितूनां स्वाद्म— बुद्धिमान् होते हुए भी निरहंकारी यह अग्नि गायोंके दूधके समान पदार्थोंको स्वादिष्ट करता है ।

[७९०-७९१] (दुरोणे पुत्रः न जातः रण्वः) घरमें उत्पन्न हुये पुत्रके समान सुखदायक अग्नि, (वाजी न प्रीतः विशः वि तारीत्) घोडेकी तरह हर्षान्वित होकर मनुष्योंको दुःखसे पार लगाता है। (यत् नृभिः) जब मनुष्योंके साथ मैं (सनीळाः विशः अह्वे) यज्ञमें समान स्थानवाले मनुष्योंका आह्वान करता हूँ, तब (अग्निः विश्वानि देवत्वा अश्याः) अग्नि देवोंके देवत्वभावको प्राप्त करता है ॥ ५-६ ॥

१ रण्वः प्रीतः वि तारीत्— यह सुखदायक अग्रणी प्रसन्न होनेपर भक्तको दुःखसे पार कराता है ।

२ अग्निः विश्वानि देवत्वा अश्याः— यह अग्रणी सारे देवभावोंको प्राप्त करता है ।

भावार्थ—यह अग्नि अत्यन्त प्रकाशमान् होनेके कारण सभी लोकोंको अपने तेजसे भर देता है । यह अन्नादिसे देवों-विद्वानोंका पालन करता है ॥ १-२ ॥

वह अग्रणी बुद्धिमान् होते हुए भी निरहंकारी है । यही अग्नि अन्नको स्वादिष्ट बनाता है । यज्ञगृहमें वह आकर शोभायमान होता है ॥ ३-४ ॥

पुत्रके समान सुखदायक अग्नि प्रसन्न होकर मनुष्योंको दुःखसे पार कराता है और बुलाए जानेपर सभी उत्तम गुणोंको अपने साथ लेकर आता है ॥ ५-६ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७९२ नकिष्ट एता, व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः, श्रुष्टिं चकर्थ ७
७९३ तत् तु ते दंसो, यदहन्त्समानै नृभिर्यद् युक्तो, विवे रपांसि ॥ ४ ॥ ८
७९४ उषो न जारो, विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै ९
७९५ त्मना वहन्तो, दुरो व्यृण्वन् नवन्त विश्वे, स्व१र्दृशीके ॥ ५ ॥ १०

[७०]

(ऋषिः- पराशरः शाक्त्यः । देवता- अग्निः । छन्दः- द्विपदा विराट् ।)

७९६ वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः सुशोको, विश्वान्यश्याः १
७९७ आ दैव्यानि, व्रता चिकित्वा ना मानुषस्य, जनस्य जन्म ॥ १ ॥ २

अर्थ— [७९२-७९३] (यत् एभ्यः नृभ्यः) चूंकि तू नियममें रहनेवाले इन मनुष्योंको (श्रुष्टिं चकर्थ) सहायता करता है, इसलिए (ते एता व्रता नकिः मिनन्ति) तेरे इन नियमोंको कोई तोड नहीं सकता । (यत् अहन्) जो तूने शत्रुओंको मारा और (यत् समानैः नृभिः युक्तः रपांसि विवेः) जो साधारण मानवोंसे युक्त होकर तूने राक्षसोंको मार भगाया (तत् ते दंसः) वह तेरा पराक्रम प्रशंसनीय है ॥ ७-८ ॥

१ व्रता नकिः मिनन्ति— इस अग्रणीके नियमोंको कोई तोड नहीं सकता ।

२ समानैः नृभिः रपांसि विवेः— साधारण मनुष्योंकी सहायतासे अग्रणी वीरने शत्रुओंको मार भगाया । यह इतना वीर है ।

[७९४-७९५] (उषः जारः न विभावा) उषा प्रेमी सूर्यके समान विशेष तेजस्वी (उस्रः संज्ञातरूपः अस्मै चिकेतत्) और प्रकाशयुक्त, प्रख्यात अग्नि इस मनुष्यको जाने । (त्मना वहन्तः) स्वयं हविको लेकर और (दुरः वि ऋण्वन्) यज्ञ गृहके द्वारको खोलकर (विश्वे) अग्निकी वे सारी किरणें (दृशीके, स्वः) दर्शनीय आकाशमें (नवन्त) चारों ओर जाती हैं ॥ ९-१० ॥

१ दुरः ऋण्वन् दृशीके स्वः विश्वे नवन्त— द्वारोंको खोलकर इस अग्निकी किरणें अनन्त आकाशमें फैल जाती हैं ।

[७०]

[७९६-७९७] जिससे हम (पूर्वीः वनेम) प्रभूत धन माँगते हैं वह (अग्निः) अग्नि (मनीषा, अर्थः सुशोकः) बुद्धिसे प्राप्त करने योग्य, श्रेष्ठ और उत्तमतासे तेजस्वी है । (विश्वानि, दैव्यानि व्रता) देवोंके सब कर्मोंको तथा (मानुषस्य जन्म) मनुष्यके जन्मको (चिकित्वान् आ अश्याः) जाननेवाला यह अग्नि सर्वत्र पूर्णरूपसे व्याप्त हो रहा है ॥ १-२ ॥

१ अग्निः मनीषा— वह अग्नि देव बुद्धिसे प्राप्त करने योग्य है ।

२ विश्वानि दैव्यानि व्रता मनुषस्य जन्म चिकित्वान्— वह देवोंके सम्पूर्ण कर्मों और मनुष्यके जन्मोंको जानता है ।

भावार्थ— यह अग्रणी उन मनुष्योंकी सहायता करता है जो इसके अनुशासनमें रहता है । वह ऐसे मनुष्योंकी सहायता लेकर शत्रुओंको खदेड देता है ॥ ७-८ ॥

यह अग्नि देव तेजस्वी और प्रकाशयुक्त होनेके कारण सभीके द्वारा ज्ञात है । इसकी ज्वालायें बहुत ऊंची उठती हुई आकाशमें फैल जाती हैं ॥ ९-१० ॥

भरपूर धनको देनेवाला वह अग्नि श्रेष्ठ होनेके कारण बुद्धिसे जाना जा सकता है । वह सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण सब कुछ जानता है ॥ १-२ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७९८ गर्भो यो अपां, गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां, गर्भश्चरथाम् ३
७९९ अद्रौ चिदस्मा, अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो, अमृतः स्वाधीः ॥ २ ॥ ४
८०० स हि क्षपावाँ, अग्नी रयीणां दाशद् यो अस्मा, अरं सूक्तैः ५
८०१ एता चिकित्वो, भूमा नि पाहि देवानां जन्म, मर्ताँश्च विद्वान् ॥ ३ ॥ ६
८०२ वर्धान्यं पूर्वीः, क्षपो विरूपाः स्थातुश्च रथमृतप्रवीतम् ७
८०३ अराधि होता, स्वनिषत्तः कृण्वन् विश्वान्यपांसि सत्या ॥ ४ ॥ ८
८०४ गोषु प्रशस्ति, वनेषु धिषे भरन्त विश्वे, बलिं स्वर्णः ९
८०५ वि त्वा नरः, पुरुत्रा संपर्यन् पितुर्न जित्रेर्वि वेदो भरन्त ॥ ५ ॥ १०

अर्थ—[७९८-७९९] (यः अपां गर्भः) जो अग्नि जलोंके बीचमें, (वनानां गर्भः) जंगलोंके बीचमें, (स्थातां गर्भः) स्थावरोंके बीचमें, (च चरथां गर्भः) और जंगम प्राणियोंके बीचमें विद्यमान है। (अमृतः स्वाधीः विश्वः विशां न) यह अमर और उत्तम कर्म करनेवाला अग्नि सबको उसी प्रकार आधार देता है जिस प्रकार राजा अपनी प्रजाओंको। इसलिए लोग (अस्मै दुरोणे अद्रौ चित् अन्तः) इसे घरमें और पर्वतपर भी हवि देते हैं ॥ ३-४ ॥

१ अपां गर्भः— जलोंके बीच बाडवाग्नि या समुद्रकी अग्निके रूपमें।
२ वनानां गर्भः— वनोंमें दावाग्नि या जंगलकी अग्निके रूपमें।
३ स्थातां गर्भः— स्थावरोंकी अग्नि पत्थरादियोंमें।
४ चरथां गर्भः— मनुष्य या प्राणियोंमें जठराग्निके रूपमें।

[८००-८०१] (यः अस्मै सूक्तैः अरं) जो इस अग्निकी वेदमन्त्रोंसे पर्याप्त स्तुति करता है, उसे (स क्षपावान् अग्निः) वह रात्रीमें प्रदीप्त होनेवाला अग्नि (हि रयीणां दाशत्) निश्चयसे धनोंको प्रदान करता है। (चिकित्वः) हे सर्वज्ञाता अग्ने ! तू (देवानां च मर्तान् जन्म विद्वान्) देवों और मनुष्योंके जन्मोंको जानता है इसलिये (एता भूम निपाहि) समस्त प्राणियोंकी रक्षा कर ॥ ५-६ ॥

[८०२-८०३] (विरूपाः पूर्वीः क्षपः यं वर्धान्) विभिन्न रूपवाली उषायें और रात्रियां जिस अग्निको बढाती हैं। तथा (स्थातुः च रथं ऋतप्रवीतं) स्थावर वृक्षादि और जंगम मनुष्यादि भी सत्य रूपवाले अग्निको बढाते हैं। (स्वः निषत्तः) देवपूजाके स्थानमें बैठकर (होता, विश्वानि अपांसि सत्या कृण्वन् अराधि) देवोंका आह्वाता यह अग्नि सारे कर्मोंके फलोंको सत्य करता हुआ पूजित होता है ॥ ७-८ ॥

[८०४-८०५] हे अग्ने ! तू (वनेषु गोषु प्रशस्ति धिये) हमारे वनों और गौवोंमें प्रशंसाको स्थापित कर। (विश्वे नः स्वः बलिं भरन्त) सब मनुष्य हमारे लिये, ग्रहण करने योग्य धनको ले आवें। और (त्वा नरः पुरुत्रा विसपर्यन्) तुम्हारी मनुष्य विविध प्रकारकी पूजा करते हैं और जिस प्रकार (जित्रेः पितुः न वेदः विभरन्त) पुत्र वृद्ध पितासे धन पाता है उसी प्रकार तुझसे धन प्राप्त करते हैं ॥ ९-१० ॥

भावार्थ— यह अग्नि सर्वत्र व्यापक होकर सबको आधार देता है, इसलिए सर्वत्र इसकी पूजा की जाती है ॥३-४॥

प्रशंसित होकर यह अग्नि स्तोताको धन देता है। यह सर्वज्ञ है अतः सभीके जन्मोंको जानता है और सारे प्राणियोंकी रक्षा करता है ॥ ५-६ ॥

यह अग्नि सभी समय वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। सभी प्राणी इसे बढाते हैं। यह भी सभी प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार फल देता है ॥ ७-८ ॥

यह अग्नि सभी पदार्थोंको प्रशंसित बनाता है। इसी कारण यह सर्वत्र पूजा जाता है और यह भक्तोंको धन प्रदान करता है ॥ ९-१० ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मानवजीवनके रहस्योंसे भरपूर

एक संग्रहणीय खजाना

जी हां, मानवशरीरकी रचना विधाताके कौशल्यकी चरम सीमा है। शरीर स्वयंमें एक रहस्यमय विश्व है, जिसके कई रहस्योंका स्फोट आजतक भी नहीं हो पाया है।

मानवशरीरविज्ञानके विज्ञोंने इस शरीरका जितना विश्लेषण आज किया है, उससे कहीं अधिक और यथार्थ विश्लेषण हमारे प्राचीन ऋषिमहर्षियोंने इस शरीरका किया था। उन्होंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन भागोंमें मानव शरीरके सारे रहस्योंका उद्घाटन किया है। इन सारे रहस्योंको यदि आप जानना चाहते हैं, तो अवश्य पढिए श्री पं. श्री दा. सातवलेकर लिखित अथर्ववेदके सुबोध भाष्यके पांचों भाग। वे पांच इसप्रकार हैं—

(१) ब्रह्मविद्या प्रकरण। (२) मातृभूमि और स्वराज्यशासन। (३) गृहस्थाश्रम। (४) आरोग्य और दीर्घायुष्य। (५) मेधाजनन, संगठन और विजय।

इनमें प्रथम चार भाग विक्रीके लिए तैय्यार हैं, अन्तिम एक भाग अभी प्रेसमें है। उनके भी शीघ्र छपनेकी आशा है।

प्रथमभागमें— 'ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग, पाशवी सामर्थ्यका आत्मिकशक्तिसे प्रतिकार, गुह्य अध्यात्मविद्या, पूजनीय ईश्वर, आत्मशक्ति, ब्रह्माण्ड देह, आत्मज्योति, मुक्तिका मार्ग, मुक्तिका अधिकारी,' आदि कई आध्यात्मिकज्ञानके रहस्योंका संग्रह है।

दूसरे भागमें— 'वैदिकराष्ट्रगीत, राजाका कर्तव्य, राष्ट्रका अभ्युदय, राजाका चुनाव, कर, दुष्टका नाश, शत्रुपर विजय, युद्धनीति, विजयप्राप्ति, स्वशक्तिका विस्तार, युद्धसाधन' आदि कई राज्यशास्त्रविषयक बातोंका वर्णन है।

तीसरे भागमें— 'पवित्र गृहस्थाश्रम, कुलवधू एवं पतिके गुण, वर और कन्याके गुण एवं उनका चुनाव, वैदिकविवाहका स्वरूप, धनार्जन, गोरक्षण, आदर्शपतिपत्नी, वीरपुत्रकी उत्पत्ति, रमणीय घर, भाग्यप्राप्ति' आदि गृहस्थाश्रमके सम्बन्धमें कई अत्यन्त उपयोगी बातोंकी विशद व्याख्या है।

चौथे भागमें— 'प्राणविद्या, दीर्घायुप्राप्तिका उपाय, अमरशक्तिकी प्राप्ति व उसका उपाय कल्याणकी प्राप्ति, आत्मरक्षण, वर्चःप्राप्ति, रोगनिवारण, यक्ष्मानाश, विषयनाश, आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा, हिप्नोटिज्म, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा' आदि कई विषयोंका वर्णन है।

पांचवें भागमें— 'मेधाजनन, मेधाकी प्राप्ति, मित्रतावर्धन, वनस्पतिविज्ञान, ब्रह्मचर्य, संगठन, मातृभूमिकी रक्षा, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रपोषण, धनप्राप्ति एवं आन्तरिक तथा ब्रह्मशक्तियों पर विजय' आदि कई उल्लेखनीय बातोंका वर्णन है।

सभी भाग मूलमंत्र, अर्थ, भावार्थ, तथा स्पष्टीकरणसे युक्त डबलक्राऊन ८ पेजी साइजके क्रीमवोव पेपरसे समृद्ध एवं आकर्षक गेटअपसे सम्पन्न हैं। प्रत्येक भागकी कीमत १० रु. (डा. व्य. पृथक्) है। भागोंकी छपाई सीमित संख्यामें ही हुई है। अतः न पानेकी निराशासे बचनेके लिए आज ही अग्रिम धन भेजकर पार्सलसे या वी. पी. से मंगायें। मुफ्त सूचीपत्रके लिए लिखें—

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Regd No. G. 71

'संसारके पुस्तकालयमें ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रंथ है'। संसारका ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो ऋग्वदमें न हो। दार्शनिक, भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, सांसारिक आदि सभी विषयोंका समावेश ऋग्वेदमें है। अतः—

यदि आप जानना चाहते हैं

कि

(१) ऋग्वैदिक दार्शनिकता क्या है ?

(२) ऋग्वैदिक समाजशास्त्र क्या है ?

(३) ऋग्वैदिक भौतिकशास्त्र कैसा है ?

(४) ऋग्वैदिक अध्यात्मविद्या क्या है ?

(५) ऋग्वेदका सांराश क्या है ?

तो अवश्य ग्राहक बनिये—

म. म. पं. श्री. दा. सातवलेकर कृत

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(चार भागोंमें)

प्रकाशन कार्य आरंभ हो गया है। मंत्र, अर्थ, भावार्थ तथा हर मण्डलके अन्तमें उस मंडल का सारांश एवं कठिनस्थलोंका स्पष्टीकरण सभी कुछ पठनीय होगा। साइज- डबल क्राऊन ८ पेंजी, सुन्दर कागज, पृष्ठ संख्या २५०० से ज्यादा, मूल्य मात्र २०) रु. प्रत्येक भाग, पर—

(१) जो पेशगी धन भेज कर इस ग्रंथके ग्राहक होंगे, उन्हें केवल ६०) में चारों भाग मिल सकेंगे।

(२) जो ग्राहक चारों भाग एक साथ खरीदेंगे, उन्हें इस ग्रंथके कुल मूल्य ८०) रु. पर २०% कमीशन दिया जाएगा।

(३) जो इस ग्रंथके कम से कम ७ ग्राहक बनायेंगे उन्हें लेखकके हस्ताक्षरके साथ चारों भाग मुफ्त भेंटस्वरूप दिए जाएंगे।

विशेष विवरणके लिए लिखें—

व्यवस्थापक—

स्वाध्याय-मण्डल पारडी,

पोस्ट- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी),' पारडी [जि. बलसार]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी)' पारडी [बलसाड]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu